

१७०



No-05764

Lo-43.15

आहार-अंक-१

गीर्वाण

वर्ष १५; अंक २

जून १९८५; आषाढ २०४२

बिन्दु-बिन्दु सिन्धु

आयुर्वेद के अनुसार भूख के चार भाग किये जाते हैं। दो भाग भोजन, एक भाग पानी और एक भाग भोजन के बाद बनने वाली वायु के लिए छोड़ देना चाहिये।

* * *

न्याय-संपन्न सम्पत्ति से लाया गया अन्न ही शुद्ध अन्न कहा जा सकता है। स्थूल बुद्धि भले ही इस पर श्रद्धा न करें और इसकी मखौल उड़ायें, किन्तु यह ज्ञानी ऋषियों की वाणी है— जिसके पीछे उनका त्याग, तप, अनुभव, और उनकी दिव्य-दृष्टि है। नीति-न्याय से उपार्जित धन एवं अन्याय से किये अन्न-धन के अच्छे-बुरे प्रभाव की अनेक कथाएँ हमारे लोक-जीवन में प्रचलित हैं।

* * *

कोई व्यक्ति यह कहे कि उसके व्यसनों का उसके मन-बुद्धि-चरित्र पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं होता, तो वह व्यक्ति स्वयं अपने-आप को धोखा दे रहा है।

* * *

संस्कृति के पतन का मूल कारण यह है कि मनुष्य जीवन के प्रति आदर (रेवरेंस फॉर लाइफ) गँवा बैठा है।

* * *

दुर्योधन की तरह प्रत्येक मनुष्य यह जानता है कि धर्म क्या है, अधर्म क्या है; फिर भी धर्म की ओर प्रवृत्ति नहीं करता और अधर्म से निवृत्त नहीं होता।

* * *

ज्वर-से-तपते किसी के ओठ पानी की कुछ बूंदों से ही तर किये जा सकते हैं; उनका संबन्ध किसी रासायनिक विश्लेषण से नहीं होता। यह जानना चाहिये कि उस क्षण उसका पानी से रिश्ता अत्यधिक महत्त्व का है, जिसे 'एच_२ओ' के सूत्र से परिभाषित करना संभव नहीं है। मनुष्य-जीवन को समझने के लिए इस मर्म को समझना चाहिये। यह सूत्र जितना मनुष्य पर लागू होता है, उतना ही हिरण की आँखों पर और उतना ही किसी प्यासे पौधे पर।

* * *

'वेक्सीन' और 'सीरम' लाखों प्राणियों को कष्ट दे कर, उन्हें मार कर उनके अंगोंपांगों से बनायी जाती हैं; इसके बदले आइजेन नगर की वेटरनरी संस्था ने एक दूसरी विधि से प्राणियों का प्रयोग किये बगैर वेक्सीन और सीरम की पीव तैयार की है, जो अधिक शक्तिशाली और गुणदायी सिद्ध हुई है। इसकी वजह से प्रतिवर्ष ३६,००० बकरे इत्यादि प्राणियों की हत्या बंद हो जाएगी, जिससे आर्थिक,



तीर्थक्षर

विचार-मासिक

सद्विचार की वर्णमाला में सदाचार का प्रवर्तन

आहार अंक-१

वर्ष १५; अंक २; जून १९८५
आषाढ़ वि. स. २०४२; वी. नि. स. २५११

संपादन : डॉ. नेमीचन्द जैन
प्रबन्ध संपादक : प्रेमचन्द जैन
आकल्पन : संतोष जड़िया
छायांकन : विश्वास जैन

हीरा भैया प्रकाशन
६५, पत्रकार कॉलोनी कनाड़िया मार्ग,
इन्दौर-४५२००१, मध्यप्रदेश

दूरभाष : ५८०४

वार्षिक शुल्क : तीस रुपये
प्रस्तुत अंक : पन्द्रह रुपये
आजीवन : दो सौ इक्यावन रुपये
विदेशों में वार्षिक : सौ रुपये

नईदुनिया प्रिंटेरी, इन्दौर-४५२ ००९ द्वारा हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर के लिए मुद्रित

क्या / कहाँ

बिन्दु-बिन्दु सिन्धु आव. २, ३

आहार-विज्ञान

—संपादकीय ३

आहार और आरोग्य

—डॉ. धनंजय गुंडे ७

पूजा-आराधना : खुराक है यह भी

—प्रलयंकर १२

कश्मीर के शाकाहारी मुस्लिम संत

—डॉ. निज़ामउद्दीन १३

पर्यावरण और धर्म

—डॉ. प्रद्युम्नकुमार जैन १७

आहार : एक वैज्ञानिक विश्लेषण

—मुनि महेन्द्रकुमार; जेठालाल झवेरी

एकत्व-भावना अर्थात् आत्मचिन्तन

—मुनि विद्यानन्द ३१

पत्र-पत्रांश ३९

समाचार-परिशिष्ट ४३

इन सबमें सुख कहाँ है ? आव. ४

आहार-विज्ञान



ऐसा कोई प्राणी इस संसार में नहीं है, जो निराहार रहता हो, या रह सकता हो, या आहार की खोज न करता हो। वस्तुतः आहार जीवन की अनिवार्यता है। और सबके बगैर तो चल सकता है, किन्तु उदरपूर्ति का कोई विकल्प नहीं है।

यदि ऐसा है तो क्या हमें जो, जैसा, जिस वक्त, जिस तरह-का मिले, ग्रहण कर लेना चाहिये, या जो कुछ भी हम अपने पेट में डाल रहे हैं उसकी गुणवत्ता के बारे में विवेक से काम लेना चाहिये? यह सच है कि जो भी आहार हम ग्रहण करते हैं, वह सिर्फ मांस-मज्जा, खून-हड्डी आदि में ही नहीं बदलता है, अपितु हमारे विचार भी उसीसे बनते/बिगड़ते हैं। जिन चीजों को आहार के रूप में हम लेते हैं, उन सबके अपने-अपने गुणधर्म हैं; सारी वस्तुएँ एक-जैसी नहीं हैं। कुछ तामसिक हैं, कुछ राजसिक, और कुछ सात्त्विक; अतः हमें यह देख लेना होगा कि हम अपने व्यक्तित्व की इमारत तमस्, रजस्, या सत् किन ईंटों से चिन रहे हैं।

आहार के सिलसिले में कई प्रयोग हुए हैं, जिनमें पाया गया है कि जो लोग जिस किसम का आहार लेते हैं, उनके शरीर का गठन तदनुरूप हो जाता है। बहुत सीधी-सी बात है कि यदि हमने पाचनतन्त्र को ऐसे पदार्थ दे दिये हैं, जिन्हें पचाना या तो मुश्किल है, या तुरन्त संभव नहीं है, तो हम सुस्ती और मनहूसियत, मन्दाग्नि और अपच के शिकार हो जाएँगे। इसी तरह यदि हमने कोई उत्तेजक पदार्थ अपने आहार में शरीक कर लिया है, तो हमारा सारा शरीर-तन्त्र उत्तेजित हो उठेगा और हम बेहोशी, बेसमझी, या अर्द्धान्मत्तता की स्थिति में आ जाएँगे। शरीर पर होने वाले प्रभावों का साक्षीदार मन न हो यह संभव नहीं है, और मन पर होने वाले प्रभावों से शरीर अप्रभावित/अछूता रहे यह भी असंभव है। क्रोधी, या स्वार्थान्ध व्यक्ति के आहार की जाँच-पड़ताल यदि हम करेंगे तो पायेंगे कि उसके आहार में ऐसे पदार्थ सम्मिलित हैं, जो उसे कुपित/क्रुद्ध करते हैं, या स्वकेन्द्रित रखते हैं। संक्षेपतः हम आहार के सूक्ष्म विश्लेषण, या उसकी वस्तुनिष्ठ समीक्षा से इस तथ्य का पता लगा सकते हैं कि कौन व्यक्ति कैसा है, या वह किस वक्त कैसा

बर्ताव कर सकता है? देखिये न, जो लोग सात्त्विक आहार करते हैं वे क्षमावान्, अभीत, साहसी, विश्वसनीय, धीरजवान्, और प्रायः लोकहितरत रहते हैं।

आहार से सिर्फ हमारी अनुभूतियाँ और चिन्तनधारा ही नहीं बनती अपितु उससे हमारी मुखाकृतियाँ और चेहरे; झुर्रियाँ और मांसपेशियाँ भी बनती हैं। शराबी का चेहरा फूला-फूला, अनुपातशून्य, और थल-थल होता है, उसकी चाल में लड़खड़ाहट और अनिश्चय होता है। चेहरे से यह जानना कि कौन क्या खाता है, मुश्किल नहीं है। बिल्ली और खरगोश, हिरण और भेड़िये का अन्तर उनके नाकोनक्श, उनकी मुखाकृतियों से भलीभाँति जाना जा सकता है। जो लोग जल्दबाजी में ताबड़तोड़ खाते हैं उनके चेहरे पर जल्दबाजी में काम करने का संस्कार सहज ही मिल जाता है। जो लोग अमनपसंद होते हैं, उनके चेहरों का आलम कुछ और ही होता है। ऐसे लोग न तो अधिक खाते हैं और न ही ऐसा खाते हैं जिसका सरोकार हिंसा से हो। अशान्ति और हिंसा लगभग पर्याय शब्द हैं। जो लोग दयालु होते हैं, उनके भोजन में ऐसे पदार्थ अवश्य सम्मिलित होते हैं, जो दया का रूप लेते हैं। इस तरह बिलकुल साफ है कि जो भी आहार के रूप में हम ग्रहण करते हैं, उससे मात्र हमारा शरीर ही नहीं वरन् हमारी चेतना भी प्रभावित होती है। जो लोग चेहरों को पढ़ कर लोगों की भविष्यवाणियाँ करते हैं, वे भी यही कहते पाये गये हैं कि 'जैसा खाये अन्न, वैसा होवे मन', 'जैसा हो आहार, वैसा हो संसार, 'जैसा भोजन, वैसा जन'। अंग्रेजी में कहावत है: फैंस इज द इडेक्स ऑफ हार्ट (चेहरा दिल का सूचक है); और चेहरा यह अंततः बनता भोजन में-से है; इसलिए हमें चाहिये कि हम जो भी हलक़ से नीचे उतारें, उसे गुणदोष की परीक्षा, या जानकारी के बाद ही उतारें।

आज आहार मात्र आहार ही नहीं रह गया है बल्कि उसका सूक्ष्मतर विश्लेषण हुआ है तथा उसके गुणदोष पूरी तरह स्पष्ट कर लिये गये हैं। अब उसे विज्ञान और दर्शन का दर्जा मिल गया है। आहार की संपूर्ण प्रक्रिया 'विज्ञान' इसलिए है चूँकि विज्ञान—विशेषतः रसायन और चिकित्सा विज्ञान—ने आहार का परिपूर्ण विश्लेषण किया है और इस तथ्य का पता लगाया है कि एक व्यक्ति को स्वस्थ और सक्रिय बने रहने के लिए कितनी कैलरीज (शक्ति-इकाइयों) की जरूरत होती है तथा इन्हें किन-किन स्रोतों से प्राप्त किया जा सकता है। आज विज्ञान के कदम इतनी तेजी से आहार-के-क्षेत्र में उठे हैं कि उससे संबन्धित छोटे-छोटे मुद्दों पर भी गहनतर अन्वेषण संभव हुआ है। विज्ञान ने आहार-संबन्धी खोजबीन तो की ही है, शरीर से जुड़े अन्यान्य तन्त्रों को ले कर भी गहन अनुसंधान किया है। आज उसने इस तथ्य का स्पष्ट पता पा लिया है कि भोजन किस तरह से शरीर के पाचन, रक्त-संचार, मस्तिष्क, मन इत्यादि को प्रभावित/नियन्त्रित करता है। खाद्य पदार्थों

के संदर्भ में अब विज्ञान ने इतनी गहन खोजबीन कर ली है कि वह यह आसानी से बता सकती है कि कौन पदार्थ हमारे लिए हितकारी है, और कौन नहीं? इस तरह विगत २-३ दशकों में आहार का न सिर्फ एक विज्ञान खड़ा हो गया है वरन् उसके साथ ही हमारी आवश्यकताओं के अनुरूप वस्तुओं का उत्पादन भी शुरू हुआ है।

ध्यान देने योग्य है कि आहार पर विगत वर्षों में न सिर्फ वैज्ञानिक चिन्तन ही हुआ है अपितु उस पर प्राकृतिक, नैतिक, सांस्कृतिक, मनःस्थितिक, धार्मिक इत्यादि संदर्भों में भी विचार किया गया है।

भारत एक ऐसा देश है जहाँ धर्म, संस्कृति, साहित्य, और दर्शन हमकदम चले हैं। महत्त्वपूर्ण है यह कि जब से मनुष्य ने खेती करना आरंभ किया तब से उसका ध्यान प्राणधारियों की साझेदारी पर भी गया। उसे लगा तब कि पशुओं को मार कर खाना बर्बरता है; उन्हें परिवार के अन्य सदस्यों की तरह विविध जिम्मेदारियाँ सौंप कर साथ में रखना अधिक उपयोगी है। उसे महसूस हुआ कि जितना हक जीने का उसे है, उतना ही उन्हें भी है। उसने सोचा कि जब हम उनसे लाभ उठाते हैं, तब यह जरूरी है कि हम भी अपने सांस्कृतिक/सांभ्यतिक विकास का लाभ उन्हें दें। हम मात्र क्रूर, बेरहम, बर्बर ही न हों बल्कि हों कर्णान्त, संवेदनशील, और निष्काम भी। हम सिर्फ अपने ही क्षेमकुशल पर ध्यान न दें अपितु उनके कुशल-मंगल और सहवर्तन पर भी ध्यान दें।

स्मरणीय है कि प्रकृति अनादिकाल से एक संतुलन बनाये चली आ रही है। जब भी उसे इस, या उस पलड़े पर वजन कमोबेश दीख पड़ता है, वह संतुलन पर लौटने का प्रयत्न करती है और उसका तोलकाँटा केन्द्र में आ जाता है। वह संतुलन की इस प्रक्रिया का उपयोग मात्र मनुष्यजाति पर ही करती हो ऐसा नहीं है वरन् उसका यह बर्ताव समस्त प्राणधारियों के साथ एक-जैसा होता है; इसीलिए हमने देखा है कि जब-जब और जहाँ-जहाँ मनुष्य ने उसके सहज संतुलन को तोड़ने, या क्षुब्ध करने का यत्न किया है, मनुष्य को भारी मुआवजा चुकाना पड़ा है। इन दिनों हम नयी तकनीक और प्रौद्योगिकी के शिकंजे में कुछ इस तरह जकड़ गये हैं कि हमारे द्वारा जाने/अनजाने प्रकृति-का-संतुलन काफी भंग और विकृत हुआ है; यह सही क्षण है जबकि मनुष्य को प्रकृति के साथ अपने रिश्तों की पुनर्व्याख्या करनी चाहिये और बगैर किसी टकराहट के उसकी शक्तियों और उसके रहस्यों का इस्तेमाल करना चाहिये। अहिंसक जीवन-शैली प्रकृति के इस क्रुद्ध संतुलन को संभालने का सर्वोत्तम उपाय है।

प्रकृति का नियम है कि जो जैसा करता है, उसे वह/वैसा तत्क्षण, या रुक कर, या यथासमय लौट कर किसी-न-किसी शकल में अवश्य मिलता है। अन्य शब्दों में हम जो/जिस तरह का/जिस तरह से बोते हैं, वह/उस तरह का/उस तरह से हमें

वापिस होता है। कई बार तो प्रकृति ब्याज-सहित लौटाती है। यदि हम कांटे बोते हैं, तो कांटे पाते हैं; और यदि फूल बोते हैं, तो फूल पाते हैं। यदि हम प्रकृति को उजाड़ते हैं, तो उलट कर वह भी हमें उजाड़ती है; और यदि हम उसे संपन्न करते हैं, तो वह भी हमें प्रसन्न/संपन्न करती है। 'प्रकृति के नियम अटल हैं' मनुष्य इस तथ्य को जानता है; किन्तु दुःखद यह है कि जान कर भी वह विपरीत आचरण करता है और कोई सावधानी नहीं बरतता। हम देख रहे हैं कि रोज-ब-रोज धरती नंगी हो रही है, खेत-वन उजड़ रहे हैं, नगर बस रहे हैं, पशुओं पर कहर बरस रहा है, यन्त्र मनुष्य के सर चढ़ कर बोल रहे हैं, जिन्दगी की जगह मशीनों ने ले ली है, जीवन पग-पग पर असम्मानित हुआ है और हम चाह रहे हैं कि सुखी बने रहें? असंभव है यह।

आज हमारा खानपान बिलकुल गिर गया है, इस कदर कुछ कि हम जो कुछ खा रहे हैं उसमें स्वास्थ्य पर कम और स्वाद पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। स्वाद की इस मार ने हमारे स्वास्थ्य को तो चौपट किया ही है, प्रकृति के संतुलन को भी मटियामेट किया है। स्वाद (सभी इंद्रियों का) हमारे लिए अभिशाप बनता जा रहा है। दुनिया के तीन-चौथाई लोग मांसाहार सिर्फ स्वाद के लिए करते हैं, जिसकी वजह से हर वर्ष करोड़ों पशुओं को बड़ी बेरहमी से मौत के जबड़ों में डाल दिया जाता है।

स्वाद का जहाँ तक प्रश्न है, शाकाहार के अन्तर्गत जितने स्वादिष्ट पकवान बन सकते हैं उतने मांसाहार के अन्तर्गत नहीं; गरज यह है कि स्वाद की पूर्ति शाकाहार अधिक सार्थकता से कर सकता है। कुछ लोगों को भ्रम है कि मांस से शक्ति प्राप्त होती है; किन्तु अब इसके पुख्ता सबूत मिल गये हैं कि मांसाहारी व्यक्ति जल्दी थक जाते हैं और अनजाने में कई असाध्य रोगों के शिकार हो जाते हैं। जिन्होंने विज्ञान की छाया में शाकाहार की सार्थकता/प्रासंगिकता का गहन अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि एक तो बीमार वृक्ष फल नहीं देते, अगर यदि देते भी हैं तो उन्हें देख कर तुरन्त पता चल जाता है कि यह फल ख़ाद्य है, या नहीं; किन्तु पशुओं के साथ वैसा नहीं है; उनका मिजाज और उनकी बीमारियाँ निश्चित ही मांस खाने वालों में हस्तान्तरित होती हैं। किसी वैज्ञानिक ने बिलकुल ठीक कहा है कि 'मांस एक बार पचा ली गयी वस्तुओं का मलवा होता है'। जब एक जीव शाकाहार में-से आवश्यक जीवन-तत्त्व भोग चुकता है, तब उस पचित आहार को मांसाहारी काम में लाते हैं। क्या इससे बेहतर यह नहीं है कि मलवे की जगह सीधे-सीधे मूल वस्तुओं का इस्तेमाल किया जाए? मांसाहार की बुराइयों के बारे में अब इतनी सारी छानबीन हो चुकी है कि यहाँ अधिक कहना उचित नहीं है। विचारकों/बुद्धिजीवियों और सदाचार में आस्था रखने वालों के लिए तो मांस ज़हर से भी बदतर सिद्ध हुआ है। जो लोग भगवान् और उसकी सृष्टि में भरोसा रखते हैं उनके लिए भी मांसाहार अपराधों और पापों का ढेर ही है। आज यह तो हमें देख ही लेना होगा कि हम जो कुछ कर रहे हैं वह हमारे लिए/अन्यों के लिए हितकर, या अहितकर—कैसा है? वस्तुतः शाकाहार ऐसा संतुलित आहार है जो तन, मन (अन्ततः धन को भी) एक साथ स्वस्थ रख सकता है। □

आहार और आरोग्य

हमारे शरीर में एक करोड़ खरब (१,०००,०००,०००,०००,०००,०००) कोशिकाएँ विद्यमान हैं, जिन्हें यदि एक-एक कर प्रत्यक्ष गिना जाए तो हमारे जीवन के सौ वर्ष भी अपर्याप्त होंगे।

—डॉ. धनंजय गुंडे

आहार क्यों ?

आहार की आवश्यकता क्यों होती है, इसे यदि समझना हो तो हमें अपनी जीवन-धारा को समझने का प्रयत्न करना होगा। इस जीवन-धारा की दो प्रमुख इकाइयाँ हैं : शरीर-धारा और चिन्तन-धारा।

शरीर-धारा : एक प्रचण्ड चमत्कार

हमें अपना जो शरीर दिखायी देता है, वस्तुतः उसके बारे में हमारी जानकारी बहुत कम है। इसे ले कर अज्ञान / अपरिचय बहुत अधिक है; यही कारण है कि हमें अपने शरीर का सही महत्त्व जान नहीं पड़ता। ऊपर-ऊपर से सुन्दर दिखायी पड़ने वाला यह शरीर असल में त्वचा, अस्थि, मांस, मज्जा, रक्त आदि अनेक संयोगों से बना है। ये बहुविध संयोग कोशिका-स्कन्धों (टिस्सुओं) से बने हैं। ये कोशिका-समूह नाना कोशिकाओं के आकलन / एकत्रण से तैयार होते हैं। मतलब यह कि ऊपर-ऊपर से सपाट दिखायी देने वाले इस शरीर की यथार्थ इकाइयाँ सूक्ष्म कोशिकाएँ (सेल) हैं। मनुष्य-शरीर में इस तरह की कितनी ही कोशिकाएँ हैं। गणना-यन्त्रों की मदद से जो जानकारी मिली है, वह विस्मयकारी है। आमतौर से एक व्यक्ति में कोशिकाओं की संख्या '१७,००० × विश्व की जन-संख्या' के बराबर है। इस तरह हमारे शरीर में एक करोड़ खरब (१०००,०००,०००,०००,०००,०००) कोशिकाएँ विद्यमान हैं। यदि इन्हें प्रत्यक्षतः गिना जाए तो हमारे जीवन के सौ वर्ष भी नाकाफी होंगे।

कोशिकाओं की विशेषता

हमारे शरीर में जो कोशिकाएँ हैं उनकी सब में बड़ी विशेषता यह है कि वे विभिन्न संयोगों के अनुसार — अर्थात् त्वचा, हड्डी, मांस, मज्जा, खून आदि — भिन्न-भिन्न हैं। तदनुसार इनके आकार गुणधर्म भी अलग-अलग हैं। इनकी एक और विशेषता यह है कि प्रत्येक कोशिका स्वयं में एक स्वतन्त्र प्रभुसत्ता है। इनकी उम्रें भी भिन्न-भिन्न हैं; उदाहरणार्थ हमारे रक्त में जो लाल कोशिकाएँ हैं, उनकी उम्र ३ से ४ सप्ताह है। सफेद कोशिकाओं की उम्र साधारणतया ७ दिन है। इसी प्रकार स्नायु, त्वचा, हड्डी आदि की कोशिकाओं की उम्रें भिन्न-भिन्न हैं। जिनकी आयु (उम्र) पूरी हो जाती है, वे कोशिकाएँ मर जाती हैं और उनकी

तीर्थंकर : जून ८५/७

जगह नयी कोशिकाएँ ग्रहण कर लेती हैं। कोशिकाओं के जन्म-मरण का यह अन्तहीन चक्र निरन्तर चलता रहता है।

एक सेकंड में १२ लाख कोशिकाएँ मरती हैं

यदि हम रक्त की लाल कोशिकाओं पर ही सिर्फ विचार करें तो देखेंगे कि प्रवाह में ३०,०००,०००,०००,००० कोशिकाएँ हैं, जिनमें रक्त-से प्रति दिन सामान्यतया २ से ३% कोशिकाएँ यकृत में ही मरती रहती हैं। यह संख्या प्रति सेकंड १२ लाख आती है। जितनी मरती हैं, उतनी ही जन्म भी लेती हैं। साधारणतः २८ दिनों में रक्त की तमाम कोशिकाएँ बदल जाती हैं। इन मुर्दा लाल कोशिकाओं से यकृत स्निग्ध अन्न को पचाने वाला पित्त (बाइल) नामक पाचक रस तैयार करता है। इस प्रकार यदि शरीर की सब तरह की कोशिकाओं के सम्बन्ध में विचार किया जाए तो हमें विदित होगा कि इसमें-से कुछ कोशिकाएँ मरती रहती हैं जिनका स्थान नयी कोशिकाएँ लेती रहती हैं। साधारणतया छह वर्षों में शरीर की तमाम कोशिकाएँ बदल जाती है (मस्तिष्क की कोशिकाएँ इस प्रक्रिया की अपवाद हैं)। हमने देखा है कि साँप कुछ महीनों बाद केंचुली छोड़ देता है; यह केंचुली मुर्दा कोशिकाओं का समूह ही है। यही प्रक्रिया मनुष्य के शरीर में भी घटित होती है।

जो शीर्ण होता है वह है शरीर

ऊपर-ऊपर नित्य, नियमित, सुस्थिर और शान्त दिखायी देने वाले इस शरीर के अन्दर निरन्तर कैसे-कैसे परिवर्तन होते रहते हैं, इस तथ्य पर जब हमारा ध्यान जाता है तो हम स्तब्ध रह जाते हैं। कोशिकाओं के जन्म-मरण से शरीर में लगातार कमी/बढ़त, कमोबेश होता रहता है। हम रोज़-ब-रोज़ जो दाढ़ी बनाते हैं, या नाखून काटते हैं - वह सब मृत कोशिकाओं की किस्में ही हैं।

कोशिकाएँ बनती हैं आहार से

जो कोशिकाएँ मृत हो जाती हैं, कालान्तर से उनका स्थान नयी कोशिकाएँ ले लेती हैं। नयी कोशिकाओं की रचना हम जो भी खाते हैं, उससे होती है। इस प्रकार हमारे द्वारा किया जाने वाला आहार रोज़मर्रा के कार्यों में लगने वाली ऊर्जा की निर्मित के साथ मृत कोशिकाओं का स्थान ग्रहण करने वाली कोशिकाओं की निर्मित के लिए भी होता है; इसीलिए सिर्फ शक्कर खाने से ही काम नहीं चलेगा वरन् इन कोशिकाओं की रचना के लिए जिन-जिन इकाइयों की जरूरत पड़ती है उन सब का समावेश हमारे आहार में होना आवश्यक है, अतः हमें एक संतुलित आहार का संयोजन करना चाहिये ताकि शरीर स्वस्थ रहे और हम अपने दैनंदिन कार्य आसानी से संपादित कर सकें। कोशिकाएँ प्रोटीन

(प्रथिन), चिकनाई, विटामिन, कैल्शियम, सोडियम, क्लोराइड नमक, मेग्नेशियम, फॉस्फोरस, गंधक, लौह, तथा कुछ अल्प परिमाण में अन्य क्षार, प्राणवायु, नाइट्रोजन आदि के संयोग से बनती है; अतः हमारे आहार में उक्त सब वस्तुएँ एक आवश्यक अनुपात में होनी ही चाहिये ताकि निरन्तर मरणशील कोशिकाओं की जगह नयी कोशिकाएँ आती रहें। इस तरह के आहार को 'कवल-आहार' कहा जाता है।

हमारी जो जीवन-धारा चल रही है उसके लिए शरीर तथा मन के स्तर पर अनेकविध क्रियाएँ नित्य-नियमित चलती रहती हैं। इस प्रक्रिया में जो ऊर्जा लगती है, वह चय-अपचय की क्रिया से प्राप्त होती है। इस ऊर्जा के उत्पादन के लिए भी कवलाहार की आवश्यकता होती है।

उम्र के अलग-अलग पड़ावों पर शरीर के अलग-अलग अवयवों की वृद्धि होती रहती है; उदाहरणार्थ फुफ्फुस उम्र के आठ साल तक बढ़ते रहते हैं। हाथ-पाँव की हड्डियाँ पच्चीस की उम्र तक ही बढ़ती हैं। गर्भवती स्त्री में भ्रूण की वृद्धि या आयुष्यवृद्धि के लिए समुचित/संतुलित आहार की आवश्यकता होती है।

हम जिस वातावरण में रहते हैं, उसका जीवन-धारा पर अनुकूल, या प्रतिकूल प्रभाव निरन्तर पड़ता रहता है, जिसकी परछाहीं हमारे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ती है। प्रतिकूल स्थिति से मुकाबला करने के लिए हमारे शरीर में नैसर्गिक प्रतिरोध-शक्ति होती है। इन शक्तियों के समुचित संवर्द्धन के लिए भी हमें उपयुक्त/संतुलित आहार की आवश्यकता पड़ती है।

हमारा शरीर एक अद्भुत और अतर्क्य यन्त्र है, जिसमें कई-कई तरह के अवयव हैं। इन सब के सुव्यवस्थित रहने तथा उनसे उनके योग्य कार्य करा लेने के लिए मस्तिष्क से आदेश मिलते रहते हैं। ये आदेश ही संवेदन हैं। संवेदनों का स्वरूप विद्युत् चुंबकीय तरंगों-जैसा है। हमारे मस्तिष्क से २० वाट जितनी विद्युत शक्ति लगातार बाहर आती रहती है। यह शक्ति हमारे शरीर में निरन्तर घटित नाना रासायनिक प्रक्रियाओं से बनती है। हमारा शरीर एक विचित्र रसायनशाला है। अब तक की खोजबीन से यह पता लगाया जा सका है कि सिर्फ यकृत ही ३,००० प्रकार के रसायन उत्पन्न करता है। इन समस्त विद्युत् चुंबकीय क्रियाओं को सुव्यवस्थित चलाने के लिए शरीर में एक विशिष्ट रासायनिक स्थिति 'पी+९' की जरूरत होती है। यह स्थिति आहार के माध्यम से ही पुष्ट/संवर्द्धित होती है; अतः इसकी सुरक्षा के लिए योग्य आहार आवश्यक है। इस रासायनिक स्थिति के बिगड़ने पर शरीर के कार्य अनियमित हो जाते हैं और स्वास्थ्य खतरे में पड़ जाता है।

कौन-सा आहार लें ?

आहार तीन प्रकार का है : ओज आहार, रोम आहार, कवल आहार।

तीर्थकार : जून ८५/९

१. ओज आहार : स्त्री-पुरुष-बीज के संयोग से निर्मित; २. रोम आहार : शरीर की विभिन्न प्रक्रियाओं तथा उनसे संबन्धित अवयवों की निर्मिति के लिए हवा-पानी की जरूरत होती है। हमारे शरीर का ७०% भाग जल है। इसी तरह हमारे शरीर में ऊर्जा-उत्पादन के लिए जो चय-अपचय क्रिया लगातार होती रहती है, उसे भी निरन्तर प्राणवायु चाहिये। यह प्राणवायु श्वासोच्छ्वास द्वारा आने वाली हवा से प्राप्त होती है। इस तरह शरीर की तमाम क्रियाओं के लिए हवा-पानी आवश्यक है। हवा-पानी भी खुराक ही है। इन्हें 'रोम आहार' कहा जाता है। चूँकि ये दोनों निःशुल्क उपलब्ध हैं अतः हम इन पर जितना/जैसा चाहिये, उतना/वैसा ध्यान नहीं देते; ३. कवल आहार : शरीर की छीजन-पूति तथा ऊर्जा आदि के लिए ठोस और द्रव दोनों रूपों में हम जो भोजन लेते हैं, वह आहार है। इसमें-से ओज/रोम आहार के बारे में तो कोई प्रश्न ही नहीं है। ओज आहार यानी स्त्री-पुरुष-बीज-सांकर्य, यह तो एक नैसर्गिक संयोजन हुआ। रोम आहार को ले कर भी कोई विवाद नहीं है। जहाँ तक संभव हो हमें शुद्ध हवा-पानी लेना चाहिये। यथार्थ में विवाद 'कवलाहार' पर है। यह आहार वनस्पतिजन्य पदार्थों यथा अनाज, फल, सब्जी आदि से मिलता है। इसी प्रकार यह प्राणियों से यानी मांस, अंडे, मछली आदि के रूप में भी प्राप्त किया जाता है।

कवल-आहार : एक मानवीय प्रश्न

वस्तुतः यह प्रश्न बड़ा जटिल, विवादास्पद, बहुचर्चित और कहीं-कहीं प्रतिष्ठा का बन गया है कि जो भोजन लेना पड़ता है वह कौन-सा/कैसा हो : पशुजन्य (मांसाहार); या वनस्पतिजन्य (शाहाकाहार) ? माना जाता है कि निखिल विश्व में चेतना-संपन्न ८४ लाख-जीवाणु हैं, जिनमें से मनुष्य को छोड़ और किसी जीव-जीवाणु के सामने यह सवाल उपस्थित नहीं है कि वह क्या खाये, या कैसा खाये ? अनादि काल से इस संसार में विद्यमान प्राणियों के भोजन, या उनकी जीवन-पद्धति में-से प्रकृत्या कोई विशेष अन्तर नहीं हुआ है। हज़ारों सालों से सिंह, बाघ, चीते आदि मांसाहारी हैं; आज भी हैं। इतना ही नहीं, बल्कि वे अपनी आदतों में इतने आनुवंशिक, स्थिर, और अविचल हैं कि यदि किसी सिंह को ८-१० दिन भूखा रखा जाए और भूख से आकुल-व्याकुल उसे बढ़िया, ताज़ा, टटका, घास दिया जाए तो वह उसे नहीं खायेगा; अथवा इसी तरह ५-१० दिन भूखी बकरी को मांस के टुकड़े दिये जाएँ तो वह उन्हें नहीं खायेगी। वस्तुतः दुनिया के सारे जीवधारी अपनी आदतों में सुस्थिर हैं। उनकी जीवन-चर्या प्रकृति के नियमों के अनुसार प्रवर्तित है - यही वजह है कि प्रकृति के नियमों पर चलने के कारण उनका स्वास्थ्य बढ़िया रहता है।

मानव : अपवाद क्यों ?

इस दृष्टि से मनुष्य अपवाद है। हम क्या लें—शाकाहार, या मांसाहार ? इस सिलसिले में दैनिकों, साप्ताहिकों, पाक्षिकों, मासिकों तथा पुस्तक-पुस्तिकाओं में परस्पर-विरोधी विचार लगातार प्रकाशित होते रहते हैं। इस संबन्ध में विचार-विमर्श और बहस-मुबाहिसे के लिए कई संगोष्ठियाँ, सम्मेलन, और शिविर भी हुए हैं; किन्तु हमने आज तक ऐसा नहीं सुना/पढ़ा कि 'हम क्या खायें' इस मुद्दे को लेकर कभी बकरियों, बैलों या घोड़ों ने किसी चर्चा-सत्र का आयोजन किया हो। इसके विपरीत मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जिसने दुनिया का ऐसा कोई पदार्थ—जीव, या अजीव—नहीं छोड़ा, जिसे न खाया हो। चींटियों से ले कर झींगुर, मेंढक, कुत्ते, बिल्ली, चूहे, गाय, भैंस, बकरी, हिरण, खरगोश, साँप यहाँ तक कि मनुष्य को खाने तक की मंजिल पर वह आ पहुँचा है। वास्तव में यह एक गंभीर प्रश्न है कि सब प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ मनुष्य की आहार के संदर्भ में ऐसी दयनीय अवस्था क्यों है ? अन्य सभी प्राणियों को यह सध चुका है कि वे अपने मूल स्वभाव तथा अपनी शरीर-रचना/तथा कार्यों के अनुरूप आहार लें; किन्तु लगता है कि मनुष्य को अभी यह सधा नहीं है; यही कारण है कि उसका शरीर अनेक रोगों का अड्डा बना हुआ है। पिछले ५० वर्षों में तो मनुष्य ने इस मर्यादा को छोड़ ही दिया है कि 'वह क्या खाये/क्या न खाये'। जिह्वा को क्षण-भर को प्राप्त होने वाले स्वाद के लोभ में वह इन दिनों कोई भी पदार्थ अपने पेट में डाल रहा है/डालने लगा है। प्राकृतिक नियमों के उल्लंघन के कारण आज वह हृदय-विकार, गठियावात, मूत्रावरोध, दमा आदि अनेक बीमारियों की गिरफ्त में है और असामयिक (अकाल) मृत्यु के मुँह में जानबूझ कर जा रहा है।

आहार : मानव : प्राकृतिक नियम

प्रकृति ने प्रत्येक जीवधारी के उद्भव के साथ उसके जीवन-लक्ष्य को ध्यान में रख कर उसकी शरीर-रचना/कार्य-प्रणाली तदनु रूप विकसित की है तथा उसे वैसे ही आहार का संयोग जुटा दिया है। जो प्राणी इन नैसर्गिक नियमों/परम्पराओं का पालन करते हैं उनका जीवन संतुलित, शान्त, और आरोग्य-प्रधान है; किन्तु इसके विपरीत जो इन नियमों का उल्लंघन करते हैं उन्हें इसकी भारी कीमत चुकानी पड़ती है। आज मनुष्य ने गाय-जैसे निरीह प्राणी में, या विभिन्न अनाजों में सांकर्य-प्रक्रिया का उपयोग किया है; परिणामस्वरूप इन प्राणियों में/अनाजों में बीमारियाँ बढ़ी हैं और क्रमशः मनुष्य-समाज में हस्तान्तरित हुई हैं। जब हम प्राकृतिक जीवन व्यतीत करने वाले प्राणियों और स्वयं को श्रेष्ठ/प्रगतिशील मानने वाले मनुष्य के जीवन की तुलना करते हैं तब हमें मनुष्य-समाज में अपेक्षया अधिक बीमारियाँ दिखायी देती हैं। इस असंतुलन और अस्वास्थ्य, तनाव और बीमारियों के अनेक कारणों में-से प्रमुख कारण वह दूषित और असंतुलित आहार है, जिसे मनुष्य जान-बूझ कर ले रहा है। क्या हम आहार-संबन्धी विवेक को कभी ठीक से विकसित कर पायेंगे ?

—मराठी से अनुवाद : डा. विलास गुप्ते

तीर्थकर : जून ८५/११

पूजा-आराधना : खुराक है यह भी

धर्म के साथ श्रद्धातत्त्व जुड़ा हुआ है ।

यह असंभव ही है कि हम श्रद्धा, या आस्था को घटा कर धर्म के मैदानी पक्ष, व्यवहार-पक्ष को कोई हाशिया न दें । पूजा-पाठ, आराधना-अर्चना, इबादत-उपासना धर्म के मैदानी हिस्से हैं । इन्हीं के माध्यम से वह कोटि-कोटि लोगों से जुड़ा हुआ है ।

पूजा भक्ति का एक सशक्त माध्यम है ।

माध्यम, माना, लक्ष्य नहीं होता

फिर भी क्या यह संभव है कि हम सीढ़ियों के बगैर मकान की किसी मंजिल पर पहुँच पायें ?

किसी भी लक्ष्य तक सफल पहुँच बनाने के लिए माध्यम, या साधन की जरूरत होती है । साधन के बिना, वस्तुतः, साध्य की कोई स्थिति नहीं है ।

“साध्य-साधन” का शास्त्र ही कुछ ऐसा है कि जो क्षण-पूर्व साध्य दीख पड़ता है वही दूसरे क्षण साधन में बदल जाता है ।

जो हो, धर्म में भी मन को माध्यम के रूप में काम करना होता है

शुद्धात्म की ओर बढ़ने, या उस तक पहुँचने में ।

जिस तरह “निश्चय” तक पहुँचने के लिए “व्यवहार” माध्यम बनता है, ठीक वैसे ही भक्ति भी परमार्थ तक पहुँचने में शब्द के प्रथम अर्थ-सा काम करती है ।

भक्ति मन को माँजती है; एक ऊँचाई देती है ।

पूजा/आराधना/उपासना/अर्चना/इज्या आदि सब भक्ति के ही प्रकार हैं ।

मन बेहद चंचल अस्तित्व है ।

वह ध्वनि-की-तरह लहराता है । उस पर काबू पाना तब मुश्किल होता है, जब उसे नियमन/शासन में लाने के लिए कोई उपयुक्त आलम्बन न मिले । पूजा लगाम है मन-के-घोड़े पर ।

जब आत्मा घुड़सवारी करता है तब जा कर वह कहीं कब्जे में आता है ।

“पूजा” शब्द पर जब हम विचार करते हैं तब बहुत सारे नये तथ्य हमारे सामने आ खड़े होते हैं ।

संस्कृत की “पू” धातु में-से पूजा/पूजन शब्द का विकास हुआ है, जिसका

(शेष पृष्ठ १६ पर)

कश्मीर के शाकाहारी मुस्लिम संत

कश्मीर के ऋषि-संत मन्त्रदृष्टा, आत्मज्ञानी, त्यागी, संयमी, शुद्धाचार वाले धर्मानुरागी मनुष्य थे, जो जातीय भेदभाव से बालातर थे; सभी धर्मों के प्रति आस्था और श्रद्धा रखने वाले उदारचेता मुनि थे। वे आत्मा की, ईश्वर की सर्वव्यापकता में विश्वास रखते थे, सदाचारी थे; इन्द्रिय-निग्रही थे, आत्मसंयमी थे, अपरिग्रही थे। उन्होंने गृहस्थी का त्याग कर एकान्तवास किया। उनमें से कुछ नग्न, विवस्त्र भी रहते थे। उनका भोजन शुद्ध/सात्त्विक होता था। वे पूर्णतः शाकाहारी थे।

—डॉ. निजामउद्दीन

कश्मीर शैवों का प्रदेश है। यहाँ सिख भी हैं, मुसलमान भी हैं, बौद्ध भी हैं, और ईसाई भी हैं। यहाँ के निवासियों के बहुसंख्यक लोगों का भोजन मांस-भात है। हिन्दुओं में ९५ प्रतिशत मांसाहारी हैं। इने-गिने घरों को छोड़ कश्मीरी पण्डित शिवरात्रि को भी मांस पकाते हैं और मछली के बिना तो इस पर्व को मनाना संभवतः बहुत ही कठिन है; लेकिन ज्येष्ठ शुक्ला अष्टमी को श्रीनगर से २८ कि.मी. दूर 'तुलामुला' के स्थान पर जो 'खीरभवानी' का मेला लगता है, उसमें कोई हिन्दू या मुसलमान मांस खा कर नहीं जा सकता। वहाँ भगवती का मंदिर है और एक छोटा-सा 'नाग' (चश्मा) भी है। ज्येष्ठ शुक्ला अष्टमी को भवानी दुर्गा का जन्म पर्व पूर्ण श्रद्धा से मनाया जाता है। कश्मीर-नरेश जयापीठ (७५१-७८२ ई) के शासनकाल में इस पावन तीर्थ को आकर्षक बनाया गया। कल्हण की राजतरंगिणी में भी इसका वर्णन मिलता है। यहाँ के चश्मे की विलक्षण और आश्चर्यजनक बात यह है कि इसका पानी अपना रंग परिवर्तित करता है: कभी हरा, कभी लाल और कभी नीला दिखायी पड़ता है। कहते हैं, जो भी इस तीर्थ पर मांस खा कर जाता है, उसका अनिष्ट अवश्य होता है। यह एक लोकविश्वास है। कश्मीर के मुसलमान प्रायः सभी मांसाहारी हैं और उनमें लगभग सभी हिन्दू-से-मुसलमान हुए हैं, अत्यल्प संख्या में ही कश्मीर में बाहर से मुसलमान आये थे; लेकिन यहाँ की संत-ऋषि-परम्परा को देखें तो मालूम होगा कि कुछ सूफी-संत ऐसे भी थे जो मांस-नहीं खाते थे, वे शाकाहारी थे, काम-वासना को जीतने वाले, राग-द्वेष से मुक्त परम वीतरागी थे।

ऐसे एक परम वीतरागी ऋषि-संत थे शेखरूद्दीन वली नूरानी (१३७७-१४४२ ई.) जिन्हें 'अलमदारे कश्मीर' भी कहा जाता है। इनकी जियारतगाह 'चार शरीफ' में है, जो श्रीनगर से ३२ कि.मी. दूर है। कश्मीर के प्रसिद्ध इतिहासकार जोनराज ने उन्हें मुसलमानों का परम गुरु—'यवनाः परमम् गुरुम्' माना है; लेकिन वे मुसलमान और हिन्दू दोनों की श्रद्धा के केन्द्र हैं। उन्हें 'नुन्द ऋषि' कहते हैं। उन्होंने कुछ समय गृहस्थी का जीवन व्यतीत किया; लेकिन बाद को सब कुछ

तीर्थकर : जून ८५/१३

त्याग कर वे 'गुफबल' की गुफा में ध्यानमग्न रहने लगे और बारह वर्षों तक साधना का 'इफानि' हासिल किया। कहा जाता है जब जन्मे तब माँ का उन्होंने स्तनपान नहीं किया, बाद में तत्कालीन परम सिद्ध और संत कवयित्री लल्लेश्वरी ने उन्हें अपना दूध यह कह कर पिलाया कि जब पैदा होने में शर्म नहीं की तो दूध पीने में शर्म कैसी ?

रात-दिन खुदा की याद में लीन रहने वाले शेखनूरुद्दीन से जब एक दिन माँ आ कर घर चलने का आग्रह करने लगी और उनके न चलने पर अपना दूध माँगने लगी तब उन्होंने जैसे ही यह कह कर पत्थर पर हाथ रखा कि ले ले जितना दूध चाहिये तो उस पत्थर से वैसे ही दूध की धारा बह निकली थी। उनका कहना है जो 'स्व' और 'पर' को समान समझते हैं वे ही इस संसार-सागर को पार कर सकते हैं। जो मद, लोभ, और मोह को नष्ट कर देता है, उसकी नौका बिना पतवार के ही पार लग जाती है। सच्चा मुसलमान, सच्चा इन्सान वही है जो अपने को छोटा समझे, अभिमान न करे और अपने-पराये में कोई अन्तर न करे—

पानस मोल युस थविनन हार,
बेयिस सूत्य करि न मान मान ।
पर त पान युस सोदरस तारि,
सु हैय दपि न जित मुसलमान ।

अपने — पराये में भेद न करना अहिंसा है। अहिंसावादी कभी दूसरे को कष्ट नहीं दे सकता। शेखनूरुद्दीन अहिंसावादी थे, परम दयालु थे, वह प्राणियों में, मनुष्यों में भेदभाव नहीं करते। उनकी दृष्टि में हिन्दू-मुसलमान दोनों एक हैं, एक ही माता-पिता की संतान हैं। उन्हें काश्मीर में ऋषि-परम्परा का प्रवर्तक माना जाता है। उनके पदों 'श्रुक' (श्लोक) का संकलन 'नूरनामा' में किया गया है। धार्मिक सहिष्णुता के समर्थक काश्मीर के राजा जैनुल आबिदीन (१४२०-१४७० ई.) अर्थात् 'बादशाह' भी शेखनूरुद्दीन की शवयात्रा में शरीक हुए थे। इस परम त्यागी, संयमी संत ने 'वपुल हाक' (साग) खा कर ही गुज़ारा किया। उसकी आध्यात्मिक ज्योति से मानवता आज भी आलोक प्राप्त कर रही है।

नुन्द ऋषि के समान शाकाहारी थे 'बटमालो' साहब। श्रीनगर में बटमालो नाम की एक पुरानी बस्ती है। यहीं से सोपोर, बारामुला, टनमर्ग, गुलमर्ग के लिए बसें जाती हैं। 'बटमालो' का बस-अड्डा श्रीनगर का दूसरा विशाल बस-अड्डा है। बटमालो साहब की जियारत भी यहीं है। यहाँ प्रत्येक वर्ष 'रजब' के महीने में उर्स लगता है। बटमालो का नाम था 'शेख दाऊद खाकी'। वे भी मूलतः काश्मीरी पण्डित थे। उन्होंने दो बातें अपनायीं : (१) स्वच्छता (२) मांसाहार से परहेज।

जीवन में वे सदैव प्रत्येक वस्तु की, शरीर की, वस्त्रों की, मन की, व्यवहार की, रीति-रिवाज की, घर-आँगन की सफाई पर अधिक बल देते थे; इसीलिए उनके उर्स के दिनों में बटमाली के लोग, उनके अनुयायी घर की लिपाई-पुताई करते हैं, और उर्स के दिनों में निरामिष भोजन करते हैं। मांस का खाना-पकाना बंद रखते हैं। मांसाहार से परहेज करना बटमालो के जीवन-उपदेश का प्रभाव है। उन दिनों लोग पनीर का प्रयोग अधिक करते हैं, इसका कारण शायद यह रहा होगा कि बटमालो साहब गाय-बैल से बहुत प्रेम करते थे। बैलों को जोतने से पहले वे उनके पैरों की मिट्टी साफ करते थे, उन्हें सहलाते थे। कश्मीर में आज भी गाय का सम्मान किया जाता है। इस राज्य में सरकार द्वारा गो-वध पर पाबंदी है। यों स्वभावतः भी कश्मीर में मुसलमान गो-मांस पसंद नहीं करते।

कश्मीर के ऋषि-संत मन्त्रद्रष्टा, आत्मज्ञानी, त्यागी, संयमी, शुद्धाचार वाले धर्मानुरागी मनुष्य थे, जो जातीय भेदभाव से बालातर थे, सभी धर्मों के प्रति आस्था और श्रद्धा रखने वाले उदारचेता मुनि थे। वे आत्मा की, ईश्वर की सर्वव्यापकता में विश्वास करते थे, सदाचारी थे, इन्द्रिय-निग्रही थे, आत्म-संयमी थे, अपरिग्रही थे। उन्होंने गृहस्थी का परित्याग कर एकान्तवास किया। वे कुछ नग्न, विवस्त्र भी रहते थे। उनका भोजन शुद्ध, सात्त्विक होता था, वे पूर्णतः शाकाहारी थे, मांसाहार का त्याग करते थे। अब्बुल फजल ने अपनी आईन-ए-अकबरी में लिखा है कि कश्मीर के ये ऋषि-संत अपार श्रद्धा के पात्र थे। वे धर्मसम्प्रदाय में विश्वास न कर ईश्वर की सच्ची भक्ति में विश्वास करते थे, खुदा के वे परम भक्त थे। वे आत्मतोषी थे, संतोष-के-धन-से-धनी थे, किसी से कुछ माँगते न थे, न घर-गृहस्थी के जंजाल में फँसते थे और न मांस खाते थे। वास्तव में उन ऋषि-संतों के आचार को देख कर हम कह सकते हैं कि वे बौद्ध या जैन आचार के अधिक निकट थे। आज भी कश्मीर में धर्म-सहिष्णुता और भाईचारे की जो सुखद फज्रा देखने को मिलती है, उसे बनाने में इन ऋषियों और संतों का ही हाथ है। □ □

इससे क्या होगा ?

ईरान के बादशाह बाहमन ने अपने राज्य के प्रतिष्ठित, श्रेष्ठ और अनुभवी हकीम से पूछा— 'आदमी को कितना खाना चाहिये?'

हकीम ने जवाब दिया— '३९ तोले'।

बादशाह ने सवाल किया— 'इससे क्या होगा?'

हकीम ने मुस्कराते हुए कहा— 'इससे अधिक भोजन करने का अर्थ है: अन्न को व्यर्थ खोना और बौद्ध ढोना'।

अर्थ है “पवित्र करना” ।

जिसे पवित्र किया जाना है मान ही लेना होगा कि वह किन्हीं कारणों से अपवित्र/अस्वच्छ/विचलित रहा है ।

पूजा हम उन श्रद्धास्पद आत्माओं की करते हैं जो वीतराग होते हैं और संसार से मुक्त हो चुके, या हो रहे होते हैं ।

पूजा गुण-स्मरण का एक प्रकार है । वे जो पूज्य हैं उनके गुणों का अपनी जीवन-भाषा में सार्थक अनुवाद, उनका प्रकटीकरण, उनका अनुगुंजन पूजन है ।

“पू” धातु का एक अर्थ है : “माँजना” ।

माँजने से मैल कटता/घटता है और जिस पात्र/वस्तु को माँजा जाता है उसे एक नवदीप्ति/अपूर्व दमक मिल जाती है ।

पूजा के माध्यम से हम अपनी आत्मा पर जो मल/मैल आ गया होता है उसे माँजते हैं, उसकी सफाई करते हैं और पाते हैं कि हमारा आत्मा एक नयी ही आभा पा गया है ।

“पू” धातु का एक और महत्त्वपूर्ण अर्थ है “फटकना” “भूसी को अलग करना” । भक्ति में भूसी को अलग करने का अर्थ क्या हुआ ? स्पष्टतः

इसका आशय है शरीर और आत्मा को अलग-अलग देखने की अपूर्व स्थिति खोजना । पूजा करते-करते मन में यह बात उत्पन्न होती रहे कि यह शरीर, जो अनित्य, अध्रुव, क्षणभंगुर है — जो नित्य, ध्रुव, शाश्वत है — उससे जुदा है ; उससे अभिन्न नहीं है ।

जब हम शरीर और आत्मा की मिलावट को फटकते हैं तब ज्ञान के सूप में-से भूसा उड़ भागता है और सार-सार बच रहता है ।

जो सारभूत बच रहता है, वह होता है सम्यक्त्व और जो उड़ भागता है भेद-विज्ञान की इस अपूर्व प्रक्रिया में वह होता है मिथ्यात्व/पुद्गल । असल में भेदविज्ञान पूजा/आराधना की सबमें बड़ी फलश्रुति है ।

पूजा और दर्शन (फलमुफा) ; आराधना और तप में सब से बड़ा अन्तर रसान्वित/उल्लसित होने का है ।

जब हम पूजा की चित्तवृत्ति में होते हैं (पुजारी नहीं, वह रूढ़ स्थिति है), तब हमारा ध्यान पूजा के साथ-साथ पूजनीय की ओर भी दौड़ता है पूज्य कैसा है ? क्या हमें भी वैसा ही बनना है ? इत्यादि तथ्य जब मनोमन्थन की प्रक्रिया में सतह पर आने लगते हैं तब

(शेष पृष्ठ ३४ पर)

पर्यावरण और धर्म

पूर्वजों की यह प्रस्थापना हमारे गले-के-नीचे आज भी नहीं उतर पा रही है कि धरती पर उगने और जन्म लेने वाले पेड़-पौधे और चरकाय जीव ही प्राणी नहीं हैं बल्कि स्वयं यह धरती भी एक प्राणधारी जीव है। धरती को भी वैसा ही सुख-दुःख, अहसास, संवेदना होती है जैसी हमें। इस धरती पर हम हल चलाते हैं, उसे खोदते हैं, उस पर भीषण विस्फोट करते हैं। इन सब का धरती को अहसास है; किन्तु ये सारे उत्पात उसके आकार और उसकी बलिष्ठता को देखते हुए इतने नगण्य हैं कि उसे इसकी इस क्षण परवाह नहीं है—(आगे क्या होगा ? इसके जीवन्त सुबूत तो हम रोज-ब-रोज पा ही रहे हैं; हाथ-कंगन को आरसी कैसी ?)।

—डॉ. प्रद्युम्नकुमार जैन

मनुष्य पर्यावरण का प्राणी है। मनुष्य ही क्यों प्रत्येक जीवधारी पर्यावरण का अंग है। पर्यावरण एक बृहदाकार संहति है, जिसके अंगभूत तत्त्व धरती, आकाश, ग्रह, उपग्रह, सूर्य, अग्नि, वायु, जल, वृक्ष, पशु, पक्षी, मनुष्य, अदृश्य प्रेतयोनियाँ तथा अन्य भूत तत्त्व तक उसकी शरीर रचना करते हैं। इस बृहदाकार शरीर-संहति के सभी अंग जीवन्त तथा अन्योन्याश्रित हैं। सब की अन्योन्याश्रितता से ही एक संतुलित तथा जीवन्त प्रकृति-रचना हुई। उसी रचना को व्यक्ति की अपेक्षा से पर्यावरण कहा गया तथा सम्पूर्ण इकाई की अपेक्षा से उसे प्रकृति नाम मिला। प्रकृति जीवन्त है, प्राणवान है, क्योंकि उसका प्रत्येक अंग प्राणवान है। अंग और शरीर की अन्योन्याश्रितता से यह कहना कठिन है कि शरीर की जीवन्तता के कारण अंग जीवन्त है या अंगों की सामूहिक जीवन्तता से शरीर जीवन्त है। बहरहाल, इतना निश्चय अवश्य है कि सम्पूर्ण प्रकृति और उसका अंग-अंग प्राणवान है और सम्पूर्ण पर्यावरण एक जीवन्त इकाई है। मनुष्य भी इसी पर्यावरण की एक छोटी-सी इकाई है, जिसमें प्राण-संचार पर्यावरण के ही महा-प्राण से होता है। उसकी प्राणवत्ता धरती, पशु-पक्षी, वनस्पति, खनिज, चन्द्र, सूर्य, अग्नि, जल, वायु, आकाश आदि सब की ऋणी है। संतुलित पर्यावरण ही मनुष्य का जीवनाधार है।

जब से मनुष्य-जीवन का उन्मेष हुआ, उसने प्राकृतिक पर्यावरण के इन अनेक घटकों को अपने ऊपर कृपा करते पाया। उसने भावुक हो कर मुक्त कण्ठ से इनका स्तुति-गान किया। ऋचाओं पर ऋचाएँ रचीं और प्रकृति के इन प्रतीक देवताओं को अपने मन के गहन अंतराल में उपासित कर अपनी कृतज्ञता व्यक्त की। मानवीय अस्तित्व इन प्रतीकों के माध्यम से पर्यावरण के प्राणों की एक-एक धड़कन से एकमेक हो गया। वैदिक ऋषि उनके शास्ता थे और प्रकृति-

तीर्थंकर : जून ८५/१७

उपासना उनका धर्म। मनुष्य ने इस धर्म के द्वारा मैदान, पहाड़, नदी, घाटी, वृक्ष, पशु, पक्षी, ग्रह, नक्षत्रों से तादात्म्य स्थापित किया। उसका सम्पूर्ण जीवन-यापन, कल्पना, सोचना, गाना, हँसना, रोना तथा समस्त क्रियाकलाप पर्यावरणमय हो गया! फिर नये शास्ता जन्मे वे तीर्थकर, बुद्ध कहलाये। इन्होंने पर्यावरण-सुरक्षा के प्रति नये ढंग से चिन्ता व्यक्त की। इनकी चिन्ता व्यावहारिक धरातल पर थी। इनके प्रवचनों का सार-तत्त्व अहिंसा था। अहिंसा का विशेष लक्ष्य पशु, पक्षी और वनस्पतिकाय के जीव विशेष थे। इन्होंने मनुष्य के धर्म का प्रधान तत्त्व षट्काय के जीवों की रक्षा कहा! अपनी ज़रूरतें कम रखो और बिना ज़रूरत किसी जीव की हत्या मत करो—यह प्रमुख नारा था इन श्रमण शास्ताओं का। निरर्थक रूप से देवताओं को प्रसन्न करने के लिए जो यज्ञों में जीव-हत्या की जाती थी, इनका इन्होंने घोर विरोध किया और सम्पूर्ण संज्ञी-असंज्ञी जीवों को अभयदान देने का स्वर ऊँचा किया। उनका स्पष्ट आशय था, कि षट्काय के जीवों की निरर्थक अंधाधुंध हत्या से पर्यावरण का संतुलन बिगड़ेगा और वह स्वयं मनुष्य-जीवन के लिए ही विनाशकारी सिद्ध होगा। उनका उद्घोष था—‘परस्पररोपग्रहो जीवानाम्; अर्थात् परस्पर एक-दूसरे का उपकार करना जीवों का स्वभाव है। यदि मनुष्य अपने अज्ञान से इन सारे जीवों का विनाश कर देगा तो मनुष्य का ही उपकार कौन करेगा? वृक्षों और पशुओं के जो उपकार पर्यावरण-संरक्षण के लिए हैं, उन्हें आज कौन नहीं जानता? किन्तु यह ज्ञान हज़ारों वर्ष पूर्व भी हमारे शास्ताओं को प्राप्त था, जब कि पर्यावरण-प्रदूषण और विनाश की ऐसी विकट समस्या उनके सामने नहीं थी जैसी आज हमारे सामने है; फिर भी उन्हें अहसास था कि स्वस्थ पर्यावरण के बिना मनुष्य स्वस्थ जीवन नहीं जी सकता, और स्वस्थ जीवन के बिना धर्म की वास्तविक भूमिका का निर्वाह नहीं हो सकता; अतः पर्यावरण-विज्ञान और उसकी रक्षा की तकनीक तत्कालीन धर्म की चिन्ता का प्रधान बिन्दु था।

कुछ समय पूर्व तक मनुष्य-जाति, जो पश्चिम की वैचारिक गुलामी की शिकार हो कर रही, यह मानती थी कि मनुष्य और चर जीव ही वास्तव में, प्राणवान हैं, शेष सब अचर तत्त्व जड़ अथवा प्राणहीन वस्तुएँ हैं, जिनमें किसी प्रकार की संवेदना नहीं होती और जिन्हें जैसे चाहे काटा-मारा जा सकता है! धन्य है जगदीशचन्द्र बसु की वह शोध-खोज जिसने पश्चिमी विचार तकनीक से ही यह सिद्ध कर दिखाया कि सम्पूर्ण वनस्पति-जगत् चर जीवों की भाँति ही जीवन्त और प्राणवान है और वह हमारी तरह ही संवेदनशील और अहसासमन्द प्राणी है। तब हमने अपने पूर्वजों की हज़ारों वर्ष पूर्व की गयी प्रस्थापना को गंभीरता से देखा, जिसमें इन सारे अचर तत्त्वों के वर्गस्वामियों की अत्यन्त भावुकता से स्तुतियाँ गा कर

उन्हें प्रसन्न रखने की कोशिश की गयी। इन ऋचिक स्तुतियों से यह स्पष्ट भाग होता है कि न केवल हमारे पूर्वज प्रकृति के इन वर्गस्वामियों अथवा देवताओं के उपकार के प्रति कृतज्ञता व्यक्त कर रहे हैं अपितु उन्हें हम से अधिक सम्पन्न, सशक्त, सक्षम, ज्ञानवान, दयाशील और उदारचित्त प्राणी मानते हैं। हम उन ज्ञान और अनुभूति-सम्पन्न ऋचाकारों की अभिव्यक्तियों को कवि की कोरी गल्प-कल्पनाएँ और उनके अज्ञानजनित मिथ्या भीतियों की चिल्लाहट-मात्र कह कर मखौल उड़ाते रहे और अपने पश्चिमी गुरुओं की चाटुकारिता में पूँछ हिला-हिला कर उनकी 'हाँ' में 'हाँ' मिलाते रहे जब कि वे पश्चिमी गुरु स्वयं उस समय भी इन पूर्विय गुरुओं का लोहा मानते थे। अब हमने जाना कि हज़ारों वर्ष पूर्व की भारतीय मनीषियों की खोजें और प्रस्थापनाएँ अधिक सटीक और वैध हैं; और अब हम पर्यावरण-सुरक्षा के निमित्त सम्पूर्ण चर जीव-जगत् और वनस्पति-जगत् की सुरक्षा में तत्पर हुए हैं; किन्तु अब भी हम अपने मान्य पूर्वजों के कथनों को अर्द्ध सत्य मान कर ही चल रहे हैं। उन्हें अब भी आधा झूठ मानते हैं। ऋषियों; सिद्धों, तीर्थकारों, बुद्धों ने अपने सम्यक् ज्ञान से न केवल चर जीवों और वन-स्पतियों को ही प्राणवान् और संवेदनशील कहा था, अपितु उनकी निगाह में नदी, पहाड़, समुद्र, वायु, आकाश, अग्नि, धरती, सूर्य, ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड हमारी ही तरह, बल्कि हमसे कहीं अधिक सम्पन्न, संवेदनशील, ज्ञानवान प्राणी हैं और वे सब परस्पर उपकारजन्य संतुलन की डोर में बँधे हुए अस्तित्ववान् हैं।

हम भौतिक सम्पन्नता के उन्माद में इन सभी चर-अचर योनियों की अनजाने हत्या करने पर तुले हुए हैं और निरर्थक अहंकारजन्य सामाजिक दिखावे अथवा रहन-सहन का दर्जा ऊँचाने की होड़ में इस प्राणवन्त जीव-जगत् को मार कर दुहने में लगे हुए हैं। हम नहीं जानते कि हमारे इन कुकृत्यों को प्रकृति कभी माफ नहीं करेगी और हमें अपने कुकर्मों का फल प्रकृति के भीषण प्रकोप के द्वारा सामूहिक संहार के रूप में भोगना पड़ेगा। पूर्वजों की यह प्रस्थापना हमारे गले के नीचे अब भी नहीं उतर पा रही है कि धरती पर उगने और जन्मने-वाले वनस्पति और चरकाय जीव ही प्राणी नहीं हैं बल्कि स्वयं गोलाकार धरती भी एक प्राणधारी जीव है। धरती को भी वैसा ही सुख-दुःख, अहसास, संवेदना होती है जैसी हमें। हम धरती पर हल चलाते हैं, खोदते हैं, विस्फोट करते हैं; इन सब का धरती को अहसास है; ये सारे उत्पात उसके आकार और बलिष्ठता को देखते हुए इतने नगण्य हैं कि उसे इसकी परवाह नहीं। वैसे ही जैसे हमारे सिर में सूक्ष्म जुएँ या पिस्सू अपनी सामाजिक हलचल करते रहें और हमें उनकी परवाह न हो, क्योंकि उससे हमारे अस्तित्व पर किसी प्रकार की आँच आने वाली

नहीं है, किन्तु जब वही पिस्सू अपनी भौतिक तकनीक और लिप्सा इतनी बढ़ा लें कि वे हमारे सिर में छेद करने लगें, उनमें घर बना कर रहने लगें, मस्तिष्क में संरचित श्वेत और भूरे द्रव्य, रक्त तथा अन्य मूल्यवान अंगों का दोहन करने लगें और उन्हें सतह पर ला कर फूँकने लगें, तो उससे हमें अपना अस्तित्व ही खतरे में पड़ता दिखायी देने लगेगा। तो फिर हम कुपित हो कर या तो कोई ऐसी कार्यशैली अपनायेंगे जिससे सारे पिस्सू समुदाय का संहार हो जाए अन्यथा स्वयं हमें ही अपने अस्तित्व से हाथ धोना पड़ेगा। इस प्रकार चाहे पिस्सुओं का सामूहिक संहार किया जाए, चाहे स्वयं हमारा शरीर मिट जाए, दोनों ही अवस्थाओं में पिस्सुओं का जीवन संकट में ज़रूर होगा। यही उपमाजन्य न्याय हमारे और हमारी आधारभूत धरती के मध्य भी लागू होता है। हम बिना किसी रोकटोक के अपनी असीमित अप्राकृतिक लिप्सा के बशीभूत हो कर धरती का हृदय-स्थल तक खदान किये जा रहे हैं और उसमें छिपे मूल्यवान खनिज तत्त्व; यथा तेल, गैस, कोयला, लोहा, सोना आदि सब कुछ खोद कर सतह पर ला कर अविवेकपूर्ण तरीके से फूँक रहे हैं। हम यह अहसास ही नहीं कर पा रहे हैं कि ये सारे तत्त्व धरती के गर्भ में छिपे हुए धरती के जीवन और अस्तित्व के लिए कितने ज़रूरी हो सकते हैं। धरती हमारे इन लिप्सालु अविवेकपूर्ण दुष्कर्मों को किस सीमा तक झेल सकेगी — हम नहीं जानते; किन्तु जिस तीव्र गति से हम धरती के अस्तित्व को खोखला करने में जुटे हैं वह सम्पूर्ण पर्यावरण और मनुष्य के अस्तित्व के लिए शुभ नहीं है। यह निश्चित रूप से द्रव्य-हिंसा है जो भाव-हिंसा से कहीं अधिक भयानक और खतरनाक है, क्योंकि भाव-हिंसा से केवल एक व्यक्ति का अस्तित्व त्रस्त होता है, जबकि द्रव्य-हिंसा से समूह और धीरे-धीरे समस्त पर्यावरण का अस्तित्व संकट में आ पहुँचता है; इसीलिए तीर्थंकर शास्ताओं ने हिंसा को सब-से-बड़ा पाप घोषित किया, जो व्यक्ति और ईश्वर दोनों के प्रति है, अतः 'अहिंसा परमो धर्मः' का नारा अत्यन्त कल्याणकारी और मंगलमय नारा था और है। इसे बृहद् परिप्रेक्ष्य में समझने और लागू करने की ज़रूरत है क्योंकि आज इस नारे की प्रासंगिकता सर्वाधिक है।

सभ्यता का विकास हुआ और आज उसके विकास की गति अत्यन्त तीव्र है। विकास की शुरुआत औद्योगिक क्रान्ति से हुई। औद्योगिक क्रान्ति का तात्पर्य है बृहद् स्तर पर कच्चे माल का दोहन और उसका मानवोपयोगी रूपान्तरण। कच्चे माल के दोहन का अर्थ पर्यावरण का शोषण और पर्यावरण-शोषण का परिणाम हुआ थोक मात्रा में उत्पादन। थोक मात्रा में उत्पादन से सहज ही निकली खपत और बाज़ार की समस्या। खपत के लिए बाज़ार बनाने के लिए मनुष्य की लिप्सा

(शेष पृष्ठ ३० पर)

आहार : एक वैज्ञानिक विश्लेषण

मनुष्य जीने के लिए भले ही विभिन्न प्रकार के भोज्य पदार्थ ग्रहण करता हो, किन्तु सम्यक् वृद्धि, विकास एवं स्वास्थ्य के लिए पोषक तत्वों का संतुलित संयोजन नितान्त आवश्यक है।

—मुनि महेन्द्रकुमार; जेठालाल झवेरी

शारीरिक क्रियाओं के संचालन के लिए जिस ऊर्जा की तथा शारीरिक वृद्धि एवं प्रतिपत्ति के लिए जिस निर्माण-सामग्री की आवश्यकता होती है, उसकी उपलब्धि के लिए हम प्रतिदिन भोजन एवं पानी ग्रहण करते हैं। मनुष्य जीने के लिए चाहे विभिन्न प्रकार के भोज्य पदार्थों को ग्रहण करता हो, परन्तु सम्यक् वृद्धि, विकास एवं स्वास्थ्य के लिए पोषक तत्वों का संतुलन नितान्त आवश्यक है। संतुलित भोजन में प्रोटीन, कार्बोज और वसा इन तीन तत्वों के अतिरिक्त विटामिन, खनिज एवं लवणों तथा पर्याप्त मात्रा में जल का भी समावेश किया गया है। इनके साथ-साथ आंत्रिक क्रमाकुंचन^१ (पेरिस्टालसिस) को बनाये रखने के लिए पर्याप्त मात्रा में कृमिचरणात्प्रेषक^२ रेशेदार द्रव्य की भी आवश्यकता मानी गयी है। यहाँ हम संतुलित भोजन के लिए आवश्यक तत्वों में-से प्रत्येक की चर्चा करेंगे।

जल

जैसा कि हम जानते हैं—हमारे शरीर का लगभग दो-तिहाई हिस्सा जल रूप में है। जल आवश्यकतानुसार शरीर में उष्णता और शक्ति उत्पन्न करने वाली प्रणाली में मुख्य भूमिका अदा करता है। इसके साथ-साथ जल रासायनिक अभिक्रियाओं की क्रियान्विति में एक विलायक^३ द्रव्य के रूप में उपयोगी होता है तथा शरीर के परिसंचरण तंत्रों में परिवाहक तरल द्रव्य के रूप में अपनी सेवा देता है। शरीर में-से मल, मूत्र, प्रस्वेद, उच्छ्वसन आदि के माध्यम से का जल लगातार व्यय होता रहता है, जिसकी आपूर्ति प्रतिदिन के भोजन के माध्यम से की जाती है। पानी, अन्य पेय पदार्थ, फल, शाक-सब्जी आदि जल की आपूर्ति के सामान्य साधन हैं।

कार्बोज

सामान्य रूप से मनुष्य के भोजन में कार्बोज यानी शर्करा एवं श्वेतसार का

१. पाचन-क्रिया के दौरान खाद्य-पदार्थों को समूचे भोजन-प्रणाल में आगे-से-आगे धकेलने के लिए पाचन-अवयवों की मांसपेशियों के क्रमिक आकुंचन-विकुंचन से उत्पन्न होने वाली मन्द स्व-चालित लहर-गति को 'क्रमाकुंचन' की संज्ञा दी गयी है।
२. ठोस रासायनिक द्रव्यों को अपनी अभिक्रियाओं की क्रियान्विति के लिए तरल द्रव्य की आवश्यकता होती है, जिसमें वे घुल जाते हैं। इस प्रकार के तरल द्रव्य को विलायक द्रव्य कहते हैं।

प्रमाण सबसे अधिक होता है। वह संतुलित भोजन का एक महत्वपूर्ण भाग है; क्योंकि शरीर के लिए ऊर्जा का यह अधिमान्य स्रोत है। रक्त में उपलब्ध होने वाले प्रोटीनों और वसाओं की अपेक्षा द्राक्षा-शर्करा का अपचय पहले किया जाता है।

यदि भोजन में कार्बोज की पर्याप्त मात्रा का अभाव हो जाए, तो ऊर्जा-उत्पादन के लिए प्रोटीनों का अपचय करना पड़ेगा और ऐसी स्थिति में शरीर के प्रोटीनों का अपव्यय होगा। शर्करा के रूप में कार्बोज की मात्रा की अधिकता आट से बनने वाले भोजन जैसे रोटी, बिस्किट आदि, धान्य या अनाज से बनने वाले दलिया, खिचड़ी आदि तथा शाक जैसे आलू आदि में होती है। मीठे खाद्य-पदार्थों में शर्करा के रूप में कार्बोज उपलब्ध होता है।

द्राक्षा-शर्करा और उसी के विभिन्न रूप सरल शर्कराएं (मोनोसैकैराइड) हैं। इक्षु-शर्करा, यव-शर्करा एवं दुग्ध-शर्करा डाईसैकैराइड अर्थात् दो सरल शर्कराओं का संयुक्त रूप है। श्वेतसार की संरचना अधिक जटिल होती है, जिसमें अनेक सरल शर्कराएं (मोनोसैकैराइड) जुड़ी हुई होती हैं। सेल्यूलोज वनस्पति-जगत् की पोलिसैकैराइड शर्करा है। यद्यपि हमारे भोजन का यह एक प्रमुख संघटक है, फिर भी हमारे शरीर के लिए वह पोषक तत्व नहीं बन सकता, क्योंकि हमारे शरीर में इसे पचाने के उपयुक्त किण्वक (खमीरक) का अभाव होता है। फलों, शाक-सब्जियों चोकर यानी धान्य के पूरे दानों के ऊपर की भूसी आदि से यह उपलब्ध होता है। अपाच्य होने के कारण सेल्यूलोज के रेशे पाचन-प्रणाली में-से गुजरने के बाद वैसे-के-वैसे निकल जाते हैं, फिर भी क्षुधा-तृप्ति की दृष्टि से यह उपयोगी है तथा मल-विसर्जन की क्रिया में काफी सहायक होता है। भोजन में रेशेदार द्रव्यों की प्रचुर मात्रा चिरकालिक कब्ज की समस्या को समाहित करने में सहायक बनती है। जहाँ भोजन में कार्बोज का अधिक प्रमाण 'मोटापे' का एक मुख्य निमित्त बनता है, वहाँ रेशेदार द्रव्यों की प्रचुरता वाला भोजन मोटापा बढ़ाये बिना क्षुधा को शान्त कर सकता है।

ऐसे प्रमाणों में अभिवृद्धि हो रही है जो यह बताते हैं कि इस प्रकार का भोजन कैंसर एवं हृदय-रोग दोनों की दर को कम करने में सहायक हो सकता है। ऐसा भोजन संभावित कैंसरोत्पादक (कार्सिनोजेन) तत्त्वों को शरीर से बाहर निकालने की गति को तीव्र बनाता है तथा भूसी और अन्य रेशेदार द्रव्य अतिरिक्त कोलेस्टेरोल की मात्रा को विसर्जित करने में प्रेरक बनते हैं; इसलिए चोकर-सहित आटे की रोटी और बिना पॉलिस किये हुए चावल स्वास्थ्य की दृष्टि से अधिक मूल्यवान माने गये हैं।

प्रोटीन

विविध प्रकार के प्रोटीन (प्रथिन) हमारे भोजन में इसलिए आवश्यक होते

हैं कि उनसे हमें एमिनो अम्ल नामक द्रव्य प्राप्त होता है जो कि शारीरिक विकास का एक अनिवार्य तत्त्व है। प्रकृति में लगभग २३ प्रकार के विभिन्न एमिनो अम्ल पाये जाते हैं। विभिन्न प्रकार के खाद्य-पदार्थों में पाये जाने वाले प्रोटीनों में एमिनो अम्ल के प्रकार और उनकी मात्रा भिन्न-भिन्न होती हैं, परन्तु किसी एक ही प्रोटीन में सभी प्रकार के एमिनो अम्ल नहीं पाये जाते। वस्तुस्थिति यह है कि मानव-शरीर कुछ एक प्रकार के एमिनो अम्लों को दूसरे प्रकारों में बदलने की क्षमता रखता है। इतना ही नहीं, प्रोटीनेतर पदार्थों (जैसे कार्बोज और वसा) से उनका नये सिरे से निर्माण भी कर सकता है; किन्तु इसके बावजूद भी आठ प्रकार के अनिवार्य एमिनो अम्लों का संश्लेषण करने में वह असमर्थ है; इसलिए शारीरिक स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए इनकी आपूर्ति केवल भोजन के द्वारा ही की जाती है। इनके अतिरिक्त शेष एमिनो अम्लों की यद्यपि शरीर में आवश्यकता होती है, फिर भी भोजन में उनकी अनिवार्यता नहीं है; क्योंकि उनका निर्माण शरीर के भीतर भी किया जा सकता है।

यह एक उल्लेखनीय बात है कि दूध से उपलब्ध होने वाले प्रोटीनों में शरीर की वृद्धि एवं संपोषण के लिए आवश्यक सभी एमिनो अम्ल प्राप्त होते हैं। कुछ एक वनस्पतियों—विशेषकर फलीदार शिम्ब (मटर, सेम आदि), मसूर (मूँग आदि), मूँगफली आदि से उच्च प्रकार के प्रोटीनों की उपलब्धि प्रचुर मात्रा में मानी गयी है। यह मान्यता ठीक नहीं है कि केवल आमिषाहार के द्वारा ही आवश्यक प्रोटीन प्राप्त हो सकता है। ऐसा माना गया है कि उस निरामिष भोजन के माध्यम से व्यक्ति स्वस्थ जीवन जी सकता है, जिसमें फलीदार शिम्बों एवं एक-दूसरे की कमी को पूरा करने वाले अन्य पदार्थों का सम्यक् संयोजन किया गया हो। चूँकि पाचन के दौरान प्रत्येक प्रोटीन-अणु का विभाजन उनके घटक एमिनो-अम्लों में हो जाता है, इसलिए इस बात से कोई अन्तर नहीं पड़ता कि प्रोटीनों का स्रोत क्या है।

यदि पर्याप्त मात्रा में आवश्यक प्रकार के एमिनो अम्लों को भोजन के द्वारा नियमित उपलब्ध नहीं कराया जाता, तो आवश्यक केलरी* की पूर्ति होने पर भी 'प्रोटीन की कमी से होने वाली रुग्णता' के लक्षण प्रगट हो सकते हैं: बच्चों में प्रोटीन की कमी के कारण वृद्धि में रुकावट, सुस्ती एवं मानसिक मन्दता आदि बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं।

* केलरी रोमन 'सी' को केपिटल में लिखकर उसे भौतिकी में प्रयुक्त केलरी से भिन्न किया गया है। शरीर-विज्ञान में एक किलो पानी का तापमान एक डिग्री सेण्टीग्रेड बढ़ाने के लिए अपेक्षित ऊर्जा को एक केलरी कहा जाता है।

गेहूँ, मक्का, मटर आदि के प्रोटीन सरल प्रोटीन हैं, जिनमें केवल एमिनो अम्ल हीते हैं, जबकि दूध आदि के प्रोटीन विषम प्रोटीन होते हैं अर्थात् वे अन्य प्रोटीनेतर पदार्थों के साथ जुड़े होते हैं ।

वसा (घी, तेल आदि)

कार्बोज और प्रोटीन की अपेक्षा वसाएँ शरीर के लिए ऊर्जा के अधिक मितव्ययी स्रोत हैं। (१ ग्राम वसा से जहाँ ९ केलरी ऊर्जा मिलती है वहाँ १ ग्राम कार्बोज या प्रोटीन से केवल ४ केलरी ऊर्जा मिलती है। इसके अतिरिक्त जहाँ अधिकांश खाद्य-पदार्थों में समूचे पदार्थ के वजन का केवल २५% हिस्सा ही कार्बोज या प्रोटीन के रूप में होता है, शेष ७५% जल के रूप में ही होता है, वहाँ वसा धाले पदार्थ शत-प्रतिशत वसा ही हैं।

हृदय-रोग की वृद्धि में वसाओं का सेवन जिम्मेदार होने की संभावना के विषय में कुछ समय से काफी विवाद चल रहा है। इसी प्रकार धमनी की भित्तियों के भीतर वसायुक्त पदार्थों के जमा होने से होने वाली 'एथरोक्लेरोसिस' नामक बीमारी का मुख्य खलनायक 'कोलेस्टेरोल' नामक पदार्थ (जो वसाओं से उपलब्ध होता है) माना जाता था और हृदय-रोग के मरीजों को अपने भोजन में से कोलेस्टेरोल-युक्त पदार्थों की मात्रा को अत्यन्त कम करने का परामर्श दिया जाता था; पर हाल में ऐसा ज्ञात हुआ है कि भोजन में विद्यमान कोलेस्टेरोल की मात्रा का धमनियों की भित्तियों की स्थिति के साथ सदा कोई निश्चित सम्बन्ध हो ही, ऐसा नहीं है, क्योंकि भोजन में कोलेस्टेरोल का अभाव होने पर भी शरीर अपने भीतर उसका प्रचुर मात्रा में निर्माण कर लेता है। वास्तव में तो कोलेस्टेरोल शरीर के लिए एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण द्रव्य है; जो शरीर की सब कोशिकाओं, तरल द्रव्य, एवं रक्त में पाया जाता है।

आधुनिक अनुसंधान से यह फलित होता प्रतीत होता है कि संतुलित भोजन में 'असंतृप्त वसा' की कुछ मात्रा आवश्यक है। वनस्पति और बीजों के तेल में प्राकृतिक अवस्था में यह मौजूद होता है। इन तेलों का हाइड्रोजनीकरण* किये जाने पर उन्हें दीर्घकाल तक संगृहीत किया जा सकता है; पर उससे उनका असंतृप्तता का गुण नष्ट हो जाता है। भोजन में संतृप्त वसा और/अथवा कोलेस्टेरोल की मात्रा की अधिकता के कारण मोटापा तथा धमनी-भित्तियों के भीतर वसा-युक्त पदार्थों के जमा होने से होने वाली रुग्णता की संभावना बढ़ती है। असंतृप्त वसा-युक्त भोजन

* वनस्पति तेलों के हाइड्रोजनीकरण की प्रक्रिया से 'घी' बनाया जाता है, जिसे 'वनस्पति घी' के रूप में जाना जाता है। इस प्रक्रिया से उसे लम्बे समय तक सुरक्षित रखा जा सकता है और घी जैसा-लगने पर भी असली घी के कोई गुण उसमें नहीं आ पाते।

कोलेस्टेरोल को जमा होने से रोकता है एवं शारीरिक व्यायाम आदि से धमनी-भित्तियों में एकत्रित कोलेस्टेरोल की सफाई होती है।

विटामिन

यदि कोई व्यक्ति नियमित रूप से संतुलित भोजन लेता है, तो उसे विटामिन की गीली खाने की आवश्यकता नहीं रहती : आधुनिक युग में खाद्य पदार्थों को लंबे काल तक संगृहीत करने के लिए विविध प्रक्रियाओं के द्वारा संसाधित किया जाता है, पर यह बात भुला दी जाती है कि इससे खाद्य पदार्थों में रहे हुए विटामिन समाप्त ही जाते हैं। जैसे—दूध के पास्चुरीकरण* से उसके नैसर्गिक विटामिन-सी का नाश हो जाता है। इसी तरह अनाज की मिलों में तैयार किये जाने वाले आटे आदि के छिलके एवं चोकर को पूर्णतः निकाल देने के कारण उनमें विद्यमान महत्वपूर्ण पौष्टिक तत्त्व — विशेषतः विटामिन बी-काम्प्लेक्स-नष्ट हो जाते हैं।

विटामिन एक प्रकार के कार्बनिक द्रव्य हैं जिनकी हमारे शरीर की चयापचयिक प्रक्रियाओं में यद्यपि अल्प मात्रा में आवश्यकता होती है, फिर भी वे अनिवार्य हैं तथा उनका निर्माण शरीर के भीतर नहीं किया जा सकता। अधिकांश विटामिनों की आवश्यकता शरीर में किण्वकों के निर्माण के लिए होती है। मनुष्य के सम्यक् पोषण के लिए कम-से कम एक दर्जन विटामिनों की आवश्यकता बतायी गयी है तथा अच्छे स्वास्थ्य के लिए इनसे भी अधिक संख्या में और विटामिनों की आवश्यकता होने की धारणा की जा रही है। जबकि अन्य प्राणी अपनी आवश्यकता के अनुसार विटामिन 'सी' अपने-आप निर्मित कर लेते हैं, मनुष्य के लिए इसका स्रोत केवल बाहर से लिया गया भोजन ही है। वनस्पति को बाहर से कोई विटामिन ग्रहण करने की अपेक्षा नहीं होती। वह अपनी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं अपने भीतर संश्लेषण के द्वारा कर लेती है। वास्तव में तो मनुष्य के आहार के लिए आवश्यक विटामिनों का एक प्रमुख स्रोत वनस्पति जगत् से प्राप्त विभिन्न पदार्थ हैं।

विटामिनों के प्रकार

विटामिनों को उनकी घुलनशीलता के आधार पर मुख्यतः दो भागों में बाँटा जा सकता है—

१. विटामिन ए, डी., ई और के वसा एवं तेल में घुल सकते हैं। आँतों द्वारा वसा के सात्मीकरण के लिए पित्त की उपस्थिति आवश्यक होती है। यदि पित्त की कमी होती है, तो वसा का सात्मीकरण नहीं हो पाता और वसा के सात्मीकरण के

* पास्चुरीकरण अर्थात् अधिक निर्जीवीकरण। बड़े शहरों में रासायनिक प्रक्रिया से दूध को लम्बे काल तक खराब होने से बचाने के लिए संसाधित किया जाता है।

अभाव में शरीर में इन विटामिनों की कमी हो जाती है। ये विटामिन अपेक्षाकृत दीर्घ काल तक शरीर में संगृहीत किये जा सकते हैं, अतः इनका निरन्तर ग्रहण आवश्यक नहीं है; प्रत्युत यदि आवश्यकता से अधिक मात्रा में उन्हें ग्रहण कर लिया जाता है, तो उनका संचय स्वयं एक समस्या बन सकता है।

२. नानाविध विटामिनों का समूह जिसे विटामिन बी-काम्प्लेक्स कहा जाता है और विटामिन 'सी' जल में घुलनशील होते हैं तथा शरीर में उनका संचय नहीं होता। इनकी अतिरिक्त मात्राएँ शीघ्र ही विसर्जित हो जाती हैं, अतः उनका दैनिक स्थायी स्रोत आवश्यक माना गया है। इस प्रकार इनकी संचित अतिमात्रा समस्या नहीं बनती।

विटामिन 'ए'

विटामिन 'ए' आँखों की दृष्टि की रासायनिक प्रक्रिया में महत्वपूर्ण योगदान देता है। इसकी कमी से रतौंधापन (रात्रि में दिखायी न देना) जैसी बीमारी पैदा हो जाती है। विटामिन 'ए' शारीरिक विकास की प्रक्रिया में तथा त्वचा एवं श्लेष्मा-झिल्लिकाओं के संरक्षण में भी भाग लेता है; किन्तु इसकी अत्यधिक मात्रा से शरीर में विषाक्तता उत्पन्न हो सकती है, जिससे सिरदर्द, जी मचलाना आदि परिणाम आ सकते हैं। गाजर में प्रचुर मात्रा में विटामिन 'ए' का पूर्वरूप विद्यमान होता है, जिससे शरीर के भीतर विटामिन 'ए' बनाया जाता है।

विटामिन बी-काम्प्लेक्स

यह बड़ी अजीब बात लग सकती है कि विटामिन 'बी-काम्प्लेक्स' समूह के सभी सदस्यों में न तो रासायनिक सादृश्य है और न ही उनका प्रभाव समान है। इनका एक ही समूह में वर्गीकरण केवल एक ऐतिहासिक संयोग ही है। ये सारे विटामिन जल में घुलनशील हैं तथा अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थों में एक साथ पाये जाते हैं। इस समूह के कुछ सदस्य इस प्रकार हैं

विटामिन बी-१ (थियामाइन)

इस समूह के विटामिनों में सर्व प्रथम इस विटामिन का आविष्कार हुआ, अतः इसे बी-१ नाम दिया गया। शरीर में इसकी कमी से प्रारम्भ में भूख कम हो जाती है और अपच या अजीर्ण होता है। आगे चल कर तंत्रिका-तंत्र पर इसका कुप्रभाव पड़ता है, क्रियावाही तंत्रिकाओं की कार्य-क्षमता कम होती जाती है और अन्ततोगत्वा बेरी-बेरी" नामक बीमारी और हृदय-शोथ हो जाता है। इस विटामिन का अभाव मुख्य रूप से तंत्रिका-तंत्र एवं हृदय की मांसपेशियों को प्रभावित करता है। खमीर (यीस्ट) दूध, पूरे दाने वाले धान्य (चोकर और छिलके सहित), फलीदार शिम्ब (सेम आदि), गिरीदार फल (नट्स) आदि खाद्य पदार्थों में इस विटामिन की

प्रचुर मात्रा होती है। इस विटामिन की दैनिक आवश्यकता शरीर के परिमाण एवं दैनिक केलरी की खपत पर निर्भर मानी गयी है।

विटामिन बी-२ (रिबोफ्लेविन)

इस विटामिन को सर्वप्रथम दूध से पृथक् किया गया। यद्यपि इस विटामिन की आवश्यक मात्रा का अधिकांश भाग आँतों में स्थित कीटाणुओं द्वारा ही निर्मित किया जाता है; फिर भी कुछ अंश तो भोजन के माध्यम से ही ग्रहण होता है। इसकी कमी का प्रभाव सामान्यतः मन्द रूप में होता है। चर्म रोग, त्वचा-शोथ, जिह्वा-शोथ, मुँह के कोने का फटना आदि बीमारियाँ इसकी कमी से होती है। अन्य विटामिन 'बी' की कमी के साथ ही प्रायः इहकी कमी होती है। इस विटामिन के स्रोत — मूंगफली, अंकुरित गेहूँ और पालक आदि वनस्पति आदि माने जाते हैं।

विटामिन बी-६

इसकी कमी से रक्ताल्पता, त्वचा-शोथ और ऐंठन जैसी बीमारियाँ होती हैं। सौभाग्य से इसकी कमी विरल ही देखी जाती है। अन्य विटामिन बी के स्रोत से यह विटामिन भी प्रायः प्राप्त होता है, जैसे—अंकुरित गेहूँ, दूध आदि। आँतों में स्थित कीटाणुओं द्वारा भी यह संश्लिष्ट किया जाता है।

विटामिन बी-१२

यह विटामिन शरीर की वृद्धि एवं लाल रक्त-कणों के परिपाक के लिए आवश्यक है। इसकी बहुत थोड़ी मात्रा केवल कुछ माइक्रोग्राम (ग्राम का १० लाखवाँ हिस्सा) ही पर्याप्त है। इसकी कमी के कारण शरीर में रक्ताल्पता, दुर्बलता और हाथ-पैरों की शून्यता और अन्त में उनके नियन्त्रण की क्षमता का सर्वथा अभाव जैसी बीमारियाँ होती हैं।

नियासिन

नियासिन विटामिन खमीर, मूंगफली, अंकुरित गेहूँ, फलीदार शिम्ब, दूध आदि में होता है। बड़ी आँतों में स्थित कीटाणुओं द्वारा भी इसका संश्लेषण होता है। इसकी कमी से पागलपन, अतिसार, आदि बीमारियाँ हो सकती हैं।

पेण्टोथेमिक एसिड, फोलिक एसिड तथा बायोटिन

ये विटामिन बी-समूह के अन्य सदस्य हैं, जो आँतों के कीटाणुओं द्वारा निर्मित होते हैं। खमीर, दूध, अन्न, वनस्पति एवं गिरीदार फन इन विटामिनों के खाद्य-स्रोत माने गये हैं। हरी पत्ती वाली ताजी सब्जियों में भी फोलिक एसिड होता है।

विटामिन 'सी'

मनुष्य उन थोड़े प्राणियों में-से है, जिसे विटामिन-सी खाद्य-पदार्थों से ही उपलब्ध होते हैं। सर्दी-जुकाम की रोकथाम के लिए इस विटामिन का बड़ी मात्रा में (१ से १० ग्राम तक प्रति दिन) उपयोग किया जाता है। इससे जुकाम की तीव्रता कम होती है। इसके अतिरिक्त धमनी के काठिन्य को पैदा करने वाले कोलस्टेरोल की धमनी की भित्तियों से सफाई करने का काम भी यह विटामिन करता है। यह भी ज्ञात हुआ है कि इससे कैंसर-प्रतिरोधी क्रिया होती है और सचमुच अन्तिम स्थिति वाले कैंसर-रोगियों को इस विटामिन के बड़ी मात्रा में सेवन कराने पर उनकी आयु में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है।

स्कर्वी *नामक बीमारी से पीड़ित रोगियों पर नाना प्रकार की भोजन-सामग्री के प्रयोग किये गये। उन्हें अब (विटामिन 'सी' युक्त) ताजे फल दिये गये तब उस रोग के लक्षण दूर हो गये। विटामिन 'सी' का मूल नाम 'एस्कोर्बिक एसिड' है। विटामिन 'सी' की कमी होने पर घावों के भरने में बाधा उत्पन्न होती है तथा वजन कम होता है एवं कमजोरी तथा स्कर्वी रोग के अन्य लक्षण प्रकट होते हैं।

विटामिन 'सी' के उत्तम स्रोत माने जाते हैं—ताजे फल और शाकभाजी। विशेषतः नींबू वंशीय फल (नारंगी, नींबू, चकोतरा आदि), आंवला, टमाटर, हिसालु (स्ट्राबेरी) आदि। हरे पत्ते वाली शाकभाजी को भी विटामिन 'सी' का अच्छा स्रोत माना जाता है, बशर्ते कि पकाने आदि में विटामिन नष्ट न हो जाएँ।

विटामिन 'डी'

विटामिन 'डी' का उत्पादन वस्तुतः तो शरीर के भीतर तब होता है, जब त्वचा को सूर्य की रश्मियाँ प्राप्त होती हैं। यह विटामिन वसा में घुलनशील होने से शरीर में लम्बे समय तक संगृहीत रह सकता है। जो लोग घर से बाहर खुले में काम करते हैं, उन्हें केवल थोड़ी मात्रा में ही उसे भोजन से प्राप्त करने की आवश्यकता रह जाती है। जो लोग धूप का बिलकुल सेवन नहीं करते हैं, उन्हें विटामिन डी की कमी रह सकती है। गहरे रंग की त्वचा वाले लोग भी (उनकी त्वचा में मेलानिन नामक पदार्थ के कारण) पर्याप्त मात्रा में विटामिन डी से वंचित रह जाते हैं। दवा के रूप में मिलने वाले विटामिन डी को विटामिन डी-२ (केल्सीकेरोल) कहते हैं।

* स्कर्वी नामक बीमारी में रोगी के जोड़ों में सूजन एवं दर्द अस्थि-दौर्बल्य, मसूड़ों से खून गिरना, दाँतों का गिर जाना आदि शिकायतें होती हैं। यह बीमारी भोजन में माँस की मात्रा का अनुपात बहुत अधिक एवं शाकाहार का बिलकुल अभाव होने पर होती है।

पवटामिन 'डी' भोजन-प्रणाली से केलिशियम तत्त्व का सात्मीकरण करने में योगदान करता है और अस्थि-निर्माण के नियमन में सहायक होता है। विटामिन डी शरीर में—से केलिशियम के अनावश्यक व्यय को रोकता है। बच्चों में विटामिन डी की कमी के कारण रिक्केट्स (सूखा) नामक रोग उत्पन्न होता है जिससे उनकी हड्डियाँ नरम और भंगुर हो जाती हैं तथा अस्थिपंजर विकृत आकार वाला बन जाता है। उनकी टांगें बाहर की ओर झुक जाती हैं और जोड़ों में सूजन आ जाती है। वयस्क व्यक्तियों में इसकी कमी से हड्डियाँ नरम हो जाती हैं, अस्थि-पंजर विकृत आकार वाला हो जाता है और बार-बार हड्डी टूट जाती है। दूध और मक्खन इस विटामिन के अच्छे स्रोत माने गये हैं। पके-पकाये तैयार खाद्य-पदार्थों में सामान्य रूप से विटामिन डी मिलाया जाता है। ऐसी स्थिति में इस विटामिन की मात्रा का अतिक्रमण होना संभावित है।

विटामिन 'ई'

खाद्य-पदार्थों में यह विटामिन इतने व्यापक रूप से पाया जाता है कि इसकी कमी लगभग नहीं जैसी ही है। कृमिकृत तन्तुशोध (सिस्टिक फाइब्रोसिस) नामक बीमारी जिन बच्चों में पायी जाती है, उनकी आँतों में विटामिन ई का सात्मीकरण समीचीन रूप से संभवतः न होने की वजह से ऐसा होता है। यह विटामिन प्रति-ऑक्सीकरणकारी होने से असंतृप्त वसाओं के ऑक्सीकरण का निरोध करता है। बाहरी विकिरणों एवं वातावरणजन्य प्रदूषणों के दुष्प्रभाव से यह शरीर को बचाये रखता है। विटामिन ई मुख्य रूप से अंकुरित गेहूँ, तेल, पुरे गेहूँ से बने खाद्य पदार्थ, सलाद, दूध आदि और घी में होता है।

विटामिन 'के'

शरीर में रक्त का थक्का बनाने में यह विटामिन अनिवार्य रूप से काम आता है। इसका उत्पादन आंत्रिक कीटाणुओं द्वारा होता है। प्रति-जैविकी (एण्टी-बायोटिक्स) औषधियों के सेवन से जहाँ एक ओर रोगजनक कीटाणुओं का नाश हो जाता है, वहाँ साथ-साथ शरीर के लिए हितकर कीटाणुओं की आंत्रिक वस-तियों का भी सफाया हो जाता है जिससे उनके द्वारा उत्पादित विटामिनों से शरीर बंचित रह जाता है। ऐसे समय बाह्य स्रोत के द्वारा पर्याप्त मात्रा में उनकी आपूर्ति करना आवश्यक हो जाता है। यह विटामिन बहुत से खाद्य पदार्थों में पाया जाता है, पर विशेषतः पालक, अन्य पत्ते वाली सब्जी एवं टमाटर उल्लेखनीय हैं। विटामिन ई की कमी के कारण रक्त का थक्का जमने की प्रक्रिया मन्द हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप तत्काल रक्त-स्राव (हेमरेज) होने का खतरा रहता है। हेमरेज के खतरे को रोकने के लिए शल्य-क्रिया (ऑपरेशन) और प्रसूति से पहले सामान्यतः रोगी को विटामिन 'के' दिया जाता है। (अगले अंक में समाप्य)

बुद्धि की तकनीक का विकास हुआ। लिप्सा जहाँ तक प्राकृतिक आवश्यकताओं तक सीमित रहे, वहाँ तक ठीक, किन्तु चूँकि प्राकृतिक आवश्यकताएँ सीमित हैं और उत्पादन उन आवश्यकताओं से कहीं अधिक, तो स्वभावतः अप्राकृतिक आवश्यकताओं को पैदा करने का तकनीक विकसाना पड़ा। अप्राकृतिक आवश्यकताएँ विकसाना ही लिप्सा कहलायी। जब एक बार लिप्सा-वृद्धि का चक्र शुरू हो गया तो उसका बृहदाकार होना भी स्वाभाविक हो गया। इस प्रकार समाज लिप्सा-वृद्धि का शिकार होता चला गया, यानी हम अप्रकृतिजन्य आवश्यकताओं से आरामदेह आवश्यकताओं पर आये और आरामदेह से फिर पूर्णतः विलासपूर्ण; मात्र सामाजिक प्रतिष्ठा और जाहोजलाल की आवश्यकताओं पर आ गये। आवश्यकताएँ बढ़ीं, कोई गुनाह नहीं; किन्तु इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य की औद्योगिक गतिविधियों ने जो रूप धारण किया उससे प्राकृतिक सम्पदा का बहुत तेजी से दोहन होना शुरू हो गया। बड़ी तेजी से वन-सम्पदा, पशु-सम्पदा, खनिज-सम्पदा का सफाया होना प्रारम्भ हो गया। पर्यावरण की जीवन्त शरीर-रचना पहले नंगी हुई, फिर धीरे-धीरे उसकी चमड़ी उधड़ी, फिर माँस नुचा, और अब केवल कंकाल शेष है। जैसे-तैसे साँस लेता हुआ जी भर रहा है वह; और सम्पूर्ण मानवता आत्मघाती संकट के कगार पर खड़ी है।

उद्योगीकरण का बौद्धिक रास्ता बना अर्थशास्त्री और अर्थशास्त्र का दार्शनिक आधार रहा लिप्सा-वृद्धि। सूत्र बना: अधिकाधिक लिप्सा-वृद्धि → अधिकाधिक उत्पादन → अधिकाधिक तुष्टि → अधिकाधिक सुख → अधिकाधिक शक्ति। फिर वही सूत्र वापस हुआ: अधिकाधिक सुख + शक्ति → और अधिक लिप्सा-वृद्धि → और अधिक उत्पादन → और अधिक तुष्टि → फिर और अधिक सुख + शक्ति। यही सूत्र बार-बार चक्राकार होता हुआ हमारे सामने दो भीषण परिणामों के साथ उपस्थित है: (१) अत्यधिक सुख और शक्ति, (२) अत्यधिक उत्पादन के मिस पर्यावरण का अत्यधिक शोषण। अत्यधिक सुख और शक्ति केवल भौतिक विकास ने सिरजी, जिस भौतिक परिदृश्य में किसी गुह्य दैवीय शक्ति का सिद्धान्त अमान्य रहा। फलतः मनुष्य में अहंकार पैदा हुआ कि यह सब उसने ही किया। वही इतनी बड़ी शक्ति का सृष्टा है। वही सर्वशक्तिमान् है। वही अनन्त ज्ञान का धारक है। इस अहंकार से मिल कर विकसित शक्ति तामसी हो गयी और संसार तनावप्रस्त हो उठा, ठंडा-गरम युद्ध धधकारे भर उठा। दूसरा परिणाम उससे भी भयंकर बना। पर्यावरण प्रदूषित हो गया। लाखों वर्षों से उपाजित संतुलन डगमगाने लगा। धरती के खोखली होते जाने से उसकी आयु कम होने लगी; फलतः अनदेखी, अनजानी, अभूतपूर्व प्राकृतिक आपदाओं की आशका मूर्तिमान हो उठी।

(क्रमशः)

एकत्व-भावना अर्थात् आत्मचिन्तन

यह प्राणी अपने मन को प्रिय लगने वाले जितने सम्बन्धों की स्थापना करता है, शोक की उतनी ही कीलें अपने हृदय में गाड़ता है। यह कोई विलक्षणता नहीं है; क्योंकि जो जितना ऊँचा चढ़ता है, उसे उतनी ही सीढ़ियाँ उतरनी भी तो पड़ती हैं। इसी उद्देश्य से साधकजन रागभाव-से-मुक्त होकर समता को धारण करते हैं। ऐसे निःसंग जीव को न ऊपर चढ़ने की इच्छा है, न नीचे गिरने का भय। स्पष्ट है: धरती पर खड़े हुए को पर्वत-शिखर से गिरने का भय नहीं होता।

—मुनि विद्यानन्द

सब पीछे सरक गये

बारह भावनाओं (द्वादशानुप्रेक्षा) में चौथी है एकत्व। संसार भावना के पश्चात् मनुष्य को अपने एकाकित्व (अकेलेपन) की अनुभूति/भान होना चाहिये। विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य जन्म और मृत्यु के समय अकेला है। जन्म लेते समय और गर्भवास के कष्ट सहन करते समय उसका सह-भोक्ता कोई नहीं था। रोगी हुआ तब रोगजन्य व्यथाओं को बाँटने वाला कोई नहीं मिला, उसे स्वयं ही उन्हें भोगना पड़ा। मृत्यु का बुलावा आया तब सारे मित्र और परिजन पीछे सरक गये; मृतक की तो उपस्थिति भी उन्हें भयप्रद, अशुभ, और अमंगलकारी लगी। हाँ, बीच की जीवन-अवस्था में बहुत-से साथी-संगाती, मित्र, पुत्र, स्त्री, बन्धु-बांधव मिले, जिनके सम्बन्ध रागात्मक थे, स्वार्थमय थे; परन्तु जन्म-से-पूर्व का, अथवा मृत्यु-समय साथ चलने वाला इनमें-से एक भी नहीं था। अधिकतर लोग लक्ष्मी में हिस्सा लेने के लिए सम्बन्ध स्थापित किये हुए थे। इन सब विषमताओं पर विचार कर मनुष्य को एकत्व-चिन्तन करना चाहिये।

शास्त्रों के जानकार भी

मनुष्य अपने प्रियजनों के लिए पापकर्म द्वारा भी द्रव्य संचय करता है; किन्तु ये प्रियजन उसके द्वारा क्रियमाण पापों के भागीदार नहीं बनते। यह अकेला ही स्वयं कर्ता-स्वयं भोक्ता है। 'एक उत्पद्यते तनुमान एक एव विपद्यते। एक एव हि कर्म कुरुते एकलः फलमुश्नते ॥'— यह अकेला उत्पन्न होता है, अकेला मरता है, अकेला कर्म करता है, और अकेला ही कर्मफल भोगता है। शास्त्रकारों ने रागान्ध मनुष्य के लिए कितने ही मणिदीप सजा रखे हैं; किन्तु मूढ़तावश वह इनसे मार्ग-दर्शन नहीं ले रहा है। बड़े-बड़े शास्त्रों-के-जानकार भी व्यवहार चूक रहे हैं और रागादि परिग्रह को बढ़ाने में दिनरात लगे हुए हैं। नीतिकारों ने आगाह किया है:

‘यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान् मनसः प्रियान् । तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोक-
शंकवः ॥’— यह प्राणी अपने मन को प्रिय लगने वाले जितने सम्बन्धों की स्थापना
करता है, उतनी ही शोक की कीलें अपने हृदय में गाड़ता है। यह कोई विचित्र
बात नहीं है। जो जितना ऊँचा चढ़ता है, उसे उतनी ही सीढ़ियाँ नीचे उतरनी
पड़ती हैं; इसीलिए साधु रागभाव से विमुक्त हो कर समता धारण करते हैं। ‘न
—मे द्वेषोऽस्ति न प्रियः’—न मेरा कोई शत्रु है, न मित्र। ऐसे निःसंग जन को न ऊपर
चढ़ने की इच्छा है, न नीचे गिरने का भय। ‘भूमौ स्थितस्य पतनाद् भयमेव नास्ति’—
धरती पर खड़े हुए को पर्वत-शिखर से गिरने का भय नहीं होता।

एक हूँ मैं

आत्मोत्थान के मार्ग में एकत्व भावना बहुत सहायक है। समूह बना कर
रहना त्याग के उच्च मार्ग के प्रतिकूल है। ‘एकोऽहम्’ — “मैं अकेला हूँ” — यह प्रति-
ध्वनि आन्तरगुहा से निरन्तर आती रहनी चाहिये। ‘अरतिर्जनसंसदि’—मनुष्यों की
भीड़ से अरुचि होना स्वाभाविक है। यदि भीड़ से भावनात्मक सम्बन्ध भी रखा जाता
है तो वह कालान्तर में प्रबल हो कर द्रव्यात्मक सम्बन्ध के लिए प्रेरणा करता है;
अतः “मैं अकेला हूँ” इस सच्चाई को हृदय पर उत्कीर्ण और तरौताजा रखना
चाहिये।

स्वयं ही करना होगा

एकत्व भावना से आत्मनिष्ठा प्राप्त होती है। जब यह भावना प्रबल हो
कि संसार में सब जीव साथ-साथ उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते भी गुण-कर्म
परिणाम से भिन्न-भिन्न हैं, तब वह आत्मा की गहन समाधि में उतर कर आनन्द-
मग्न होने लगता है और अनुचिन्तन करता है कि ‘मैं जब एक ही हूँ तब किससे
बोलूँ? किससे हँसूँ? किसे प्रिय बनाऊँ और किससे द्वेष करूँ? मुझे तो आत्म-
कल्याण करना है। ये हँसने में साथ देने वाले मित्र आत्मकल्याण में साथ नहीं
दे सकते; इस तरह का पुरुषार्थ तो जीव को स्वयं ही करना होगा।’ कविवर
दौलतरामजी ने लिखा है : ‘शुभ अशुभ करम फल जेतें, भोगे जिय एकहि तेते।
सुत-दारा होय न सीरी, सब स्वारथ के हैं भीरी ॥’ —छहढाला ४, ६.

सुख : स्वाधीन

त्यक्तोपात्तशरीरादिः स्वकर्मानुगुणं ध्रमन् ।
त्वमात्मन्नेक एवासि जनने मरणेऽपि च ॥
बन्धवो हि श्मशानान्ता गृह एवाजितं धनम् ।
भस्मने गात्रमेकं त्वां धर्म एव न मुञ्चति ॥
पुत्रमित्रकलत्राद्यमन्यदप्यन्तरालजम् ।
नानुयायीति नाश्चर्यं नन्वङ्ग सहजं तथा ॥

त्वमेव कर्मणां कर्ता भोक्ता च फलसन्तते ।
भोक्ता च तात ! किं मुक्तौ स्वाधीनायां न चेष्टसे ॥

अज्ञातं कर्मणैवात्मन् ! स्वाधीनेऽपि सुखोदये ।

नेहसे तदुपायेषु यतसे दुःखसाधने ॥—क्षत्रचूडामणिः, ४२-४६

ये श्लोक सिद्धालय के मणिमार्ग हैं, मुक्ति के दर्शयिता हैं; भारतीय विचार-धारा ने सहस्र कण्ठों से सहस्रों बार ऐसे धीर-गंभीर आत्मजयी उद्घोष किये हैं, जिन्हें सुन कर पाप आश्रय-विहीन होते हैं, पुण्य-तरु इच्छा-फलों के भार से विनम्र हो उठते हैं, और भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि के सम्यगर्थ प्रकट होने लगते हैं। इस तरह के लक्ष-लक्ष श्लोकों के विद्यमान रहते भारत के लोग यदि आत्ममार्ग में विस्मृत हो जाएँ, भटकने लगें तो इससे बड़कर आश्चर्य की बात और क्या हो सकती है? वादीभसिंह कहते हैं: 'सुख तो, हे आत्मन्, तुम्हारे अधीन है। तुम उसकी प्राप्ति का उपाय नहीं करते और दुःख बढ़ाने वाले कर्मों में प्रवृत्त होते हो, तो कोई क्या करे? बन्धु-बांधव श्मशान तक जाएँगे, परिश्रम से उपाजित धन तिञ्जोरी में पड़ा रह जाएगा, शरीर भस्मीभूत हो कर नष्ट हो जाएगा, एकमात्र धर्म तेरा साथ नहीं छोड़ेगा; अतः अपने-आप में लीन हो कर आत्मोद्धार की चिन्ता कर। संसार का उद्धार यदि तू करने लगेगा तो संसार के कर्म कहाँ जाएँगे?'

एकत्व का अर्थ है आत्मचिन्तन। जो अनेकत्व में रागाकुल है, वह अपने आत्मा का चिन्तन नहीं कर सकता। नदी जब तक अपने जल को किनारों में सीमित नहीं कर लेती, तब तक वह समुद्रगामी प्रवाह को प्राप्त नहीं करती। संसार के अनन्त जीवों से स्वयं को पृथक् कर सम्यक्त्व-मार्ग से निःश्रेयस् का पथिक बनना ही मनुष्य के लिए उपयुक्त/समीचीन है। एकत्व में एकल भावना है, वीत-रागता का समावेश है। □

अन्न और मन

महर्षि उद्दालक ने गुरुकुल के प्रवीण छात्रों को बुलाया और परीक्षा लेने के लिए उनके आहारों को एक-एक मास के लिए बदल दिया। अवधि पूरी होने पर सभी को बुलाया गया और उनकी स्थिति जाँची गयी।

जिसे एक महीने भूखा रखा गया था, वह सब कुछ भूल गया। उसकी आँखों के सामने अँधेरा छाने लगा था। उसकी स्मृति जवाब दे रही थी। जिसने तामसिक वस्तुएँ खायीं, उसकी चंचलता बढ़ गयी और पढ़ने से मन उचट गया। जिसके आहार में मादक द्रव्यों का समावेश था, उसने अध्ययन में अरुचि दिखायी और वह घर लौटने की आज्ञा माँगने लगा। इसी प्रकार किसी को झगड़ालू, किसी को शान्त, किसी को सौम्य, किसी को उद्धत पाया गया। अध्ययन पर भी इस बदली हुई मनःस्थिति का वैसा ही प्रभाव पड़ रहा था।

प्रस्तुत परिवर्तन का रहस्य बताते हुए महर्षि उद्दालक ने छात्रों से कहा— 'अन्न से ही प्रकारान्तर से बुद्धि और चित्त बनते हैं। जैसा अन्न खाया जाता है, वैसा ही मन बनता है। विद्या को जितना महत्त्व दिया जाता है, उतना ही अनुकूल आहार पर भी ध्यान दिया जाना चाहिये।'

संमर्शना चाहिये कि हमारी पूजा/आराधना सफल हुई है। मानिये, पूजा अनायास ही हमें वहाँ ले जाती है, तप जहाँ हमें सायास ले जाता है। तप में प्रयत्न है, पूजा में लगन। पूजा में हम स्थूल के माध्यम से सूक्ष्म में अवगाहन करते हैं जबकि तप में सूक्ष्म के माध्यम से सूक्ष्मतर में। पूजा शुभ की भूमिका तैयार करती है और तप हमें वह ताप प्रदान करता है, जो विशुद्धि/सम्यक्त्व/बोधि की ओर हमें ले जाता है।

“पू” धातु का एक अर्थ और भी है : ‘पहिचानना’।

यह अर्थ भी अपूर्व है।

यानी जब हम अपनी मौलिकताओं को पहिचानने में रस लेने लगते हैं तब वह वस्तुतः पूजा होती है।

इस स्तर पर पूजा अंतरंग स्वाध्याय का रूप ग्रहण कर लेती है।

पूजा में हम वीतराग प्रभु के विग्रह को देखते-देखते अपने मूल स्वरूप को पहिचानने लगते हैं;

हमें याद पड़ता है कि हम कौन हैं? क्या हो सकते हैं? हमारा असली गन्तव्य क्या है?

वास्तव में पूजा अकेली पूजा नहीं होती; उसके साथ नाना घाट/पड़ाव होते हैं।

पूजा में आठ द्रव्य होते हैं, अर्घ्य होते हैं, पूर्णार्घ्य होते हैं, और होती हैं जयमालाएँ। इन सब का अपना-अपना महत्त्व है।

पूजा के स्वरूप पर जब हमारा ध्यान जाता है तब कई-कई रहस्य आँख खोलने लगते हैं। बीच-बीच में हम पूजा के साथ जप आदि भी करते हैं। जप एक क्रिस्म का आत्मचिन्तन है। जैसे लोहे को ‘टेम्पर’ देते हैं, उसे शीतोष्ण करते हैं, उसी तरह मन को भी पूजा में होने वाले इन वैविध्यों द्वारा ‘टेम्पर’ किया जाता है ताकि उस पर ऐसा अविचल पानी चढ़ जाए कि वह विषम-से-विषम स्थिति में भी सुस्थिर बना रहे; बड़ी-से-बड़ी आँधी में भी मन के दीपक-की-लौ अकम्प बनी रहे इसलिए होता है भक्तितत्त्व।

भक्ति एक ओर जहाँ हमें जगत् से विभक्त/पृथक् करती है, वहीं दूसरी ओर वह हमें आत्म/परमात्मतत्त्व से जोड़ती है। भक्ति में किसी-न-किसी प्रकार के नवोन्मेष की उर्वर स्थिति सदैव विद्यमान रहती ही है

यह तो हुई संस्कृत में “पू” धातु से व्युत्पन्न अर्थों की चर्चा। अब हम देखें कि द्राविड़ भाषाओं में इस शब्द की क्या स्थिति है ?

दक्षिण में “पू” का अर्थ है : पुष्पित होना। कन्नड़, तेलुगु, तमिल, मलयाळम, तुळु, सब में “पू” के मायने पुष्प हैं तथा “पूजे” के पूजा। देखा गया है कि भारतीय संस्कृति में फूल को इतना महत्त्वपूर्ण माना गया है कि उसे देवताओं के चरणों में अपनी भावनाओं के साथ अर्पित किया जाता है। उसे प्रकृति का सर्वोत्तम उपहार माना गया है। जो वृक्ष पुष्पित होते हैं, वे ही आगे चक्ष कर फलित/फलवान् होते हैं। पुष्प के बाद की स्थिति फल है। भक्त/उपासक/आराधक का ध्यान फूल से हट कर सिद्धि पर होता है। हम जानते हैं कि पुष्प के गर्भ में कहीं फल और फल के गर्भ में कहीं परमानन्द होता है। फल का परिपाक रस है। और ‘रसो वै सः’। और रस ब्रह्म है; परम ब्रह्म है; विशुद्ध परमात्म है। वह प्रतीक है प्रकृति के “सुन्दरम्” का। रामकृष्ण परमहंस कहते हैं कि पुष्प को हम तोड़ें ही क्यों ?

(उन्होंने अपने आखिरी दिनों में पूजा के लिए पुष्प न तोड़ने का निश्चय किया था। वे कहते कि फूल जहाँ उगे हैं, वहीं वे प्रभु को अर्पित हैं। उन्हें वहाँ से तोड़ कर मंदिर में ले जा कर पुनः अर्पित करने में कोई तथ्य नहीं है।)

हम तो यह देखें कि पुष्प जहाँ है वहाँ वह प्रकृति के प्रति/अपनी निजता के प्रति कितना समर्पित है और किस लीनता से प्रकृति के तन-मन को अलंकृत कर रहा है ?

वस्तुतः फूल का खिल/खुल जाना ही उसकी सब में बड़ी सार्थकता है। हमारा भी इसी तरह खुल/खिल जाना हमारी सर्वोपरि सफलता है। क्या शाखा पर मुस्करा रहे फूल से हमें यह संदेश नहीं मिलता कि हम भी यदि अपनी जड़ से बँधे रहें तो उसकी तरह ही अपने समस्त वैभव को उद्घाटित कर सकते हैं ?

“पू” का अर्थ फूल है। फूल का अर्थ रस-संपन्न/उत्तमोत्तम विकास है वृक्ष, या पौधे की अंतरंग शक्तियों का। क्या हम शरीर-वृक्ष पर ज्ञान-पुष्प नहीं खिला सकते ?

फूल जहाँ है, वहीं वह अपनी सर्वश्रेष्ठ स्थिति में है; हम जहाँ हैं वहीं अपनी सर्वोत्तमता को प्रकट कर सकते हैं; उसे व्यक्त कर सकते हैं। माटी में तो फूल कहीं दिखायी नहीं देता; किन्तु है वह वहीं।

इसी तरह शरीर में आत्मा-का-पुष्प कहीं दिखायी तो नहीं पड़ रही है; किन्तु वह है वहाँ अवश्य। क्या हम उसे अपनी प्रखर/उत्तन्त साधना द्वारा प्रकट नहीं कर सकते ?

चाहे संस्कृत हो, चाहे दक्षिण की कोई द्रविड़ी भाषा, पूजा का सीधा अर्थ है : 'आत्मा के वैभव को प्रकट करना; स्वानुभूतिमय/भक्ति-प्रधान पुष्पार्थ करना' ।

ऐसा करते-सोचते हमारा ध्यान इन दिनों बहुप्रचलित 'इन्द्रध्वज आराधना' पर जाता है। 'इन्द्रध्वज आराधना' में तीन शब्द हैं : 'इन्द्र', 'ध्वज', 'आराधना (पूजा)' ।

इन्द्र शब्द संस्कृत की "इन्द्र" धातु से व्युत्पन्न है, जिसका सहज अर्थ है—आत्मा ।

"इन्द्रतीति इन्द्रः"—जो इन्द्रियों का शास्ता/नियामक है वह है—इन्द्र। ध्वज का अर्थ है मन, जो कभी टिक कर नहीं रहता—सदैव लहराता, फहराता, चंचल/चपल बना रहता है। इन्द्र का अपना ऐश्वर्य/वैभव है। यह हुआ भावार्थ। हमें इसे ही पकड़ना है। वाच्यार्थ यदि हम लें तो ऐन्द्रध्वज महायज्ञ/आराधना/पूजा में इन्द्र जिनबिम्ब की पूजा करता है ।

पूजा के कई प्रकार हैं। जो हम प्रतिदिन कर्तव्यपूर्वक करते हैं जिनालयों में वह 'सदार्चन/नित्यमह' पूजा है। जो मुकुटबद्ध राजाओं द्वारा लोककल्याण के निमित्त होती है, वह 'चतुर्मुख/सर्वतोभद्र' पूजा है। जो जगत् के समस्त जीवों की कामनाओं को पूरा करने के लिए की जाती है, उसे 'कल्पद्रुम' पूजा कहते हैं। 'अष्टाह्निक' पूजाएँ पूरे संवत्सर में तीन बार होती ही हैं। इन्द्रध्वज महायज्ञ/आराधना/पूजा विशेष पूजा है। यह ग्यारह, इक्कीस या सत्ताईस दिनों में संपन्न होती है। यह दक्षिण-उत्तर के बीच एक आध्यात्मिक सेतुबन्ध भी है। मूलतः यह सत्रहवीं शताब्दी में कन्नड़ में लिखी गयी; १९८३ में हिन्दी पद्यानुवाद के रूप में उत्तर भारत में आयी। संस्कृत में यह है। इसमें हैं ५० पूजाएँ। ४५८ अर्घ्य। ६८ पूर्णार्घ्य। ५१ जयमालाएँ। जो लोग इसमें शरीक होते हैं उन्हें इन्द्र-इन्द्राणी (महिला होने पर) कहा जाता है; वैसे इन्द्राणी की जगह भी इन्द्र शब्द ही प्रयुक्त होना चाहिये ।

आत्मा लिगातीत है। इन्द्र आत्मा का पर्याय शब्द है; किन्तु लोकव्यवहार की दृष्टि से यह/ऐसा प्रचलित/प्रयुक्त है ।

इन्द्रध्वज पूजा में कई ऐसे उज्ज्वल/प्रेरक अंश हैं जो आत्मविभोर करते हैं। संपूर्ण रचना काव्य प्रवण और संगीतमूलक है।

ऐसे अंशों से बार-बार हमारा ध्यान कर्मक्षय की ओर वेग ग्रहण करता है। इन अंशों के माध्यम से हम आत्मानुशासन की ओर बार-बार

ललक उठते हैं। वे अंश जो कोमल-कान्त पदावली से संयुक्त हैं, हमारी अनन्त शक्तियों को व्यक्त करने में हमारी सहायता करते हैं।

शनैः शनैः हम आत्मा के परम ऐश्वर्य में निमग्न होने लगते हैं।

यदि हमारा ध्यान वाच्यार्थ से हट कर प्रतीकार्थ में जाता है

तो हमें पूजा का असली लाभ मिलता है।

पूजा में हम संयम का पालन तो करते ही हैं, शरीर को भी तद्रूप ढालने का यत्न करते हैं और इस तरह ११, २१, या २७ दिनों में हम व्यवहार-

में-से निश्चय-की-सुगंध की ओर यात्रा करने लगते हैं।

शरीर में-से अशरीरी की पहिचान हमें होने लगती है। शर्त मात्र यह

है कि प्रत्येक “स्वाहा” (आत्मा-की-पुकार) के साथ हम अपने

विकारों को छोड़ते जाएँ और

अपने भीतर मौजूद परमात्मतत्त्व की ओर एकाग्र होते जाएँ।

वस्तुतः ऐसे पूजा-अनुष्ठान सामाजिक होने के साथ ही

वैयक्तिक भी होते हैं। इनका आर्थिक पक्ष तो होता ही है; आर्थी

वैभव भी होता है।

इन्द्रध्वज के अर्थगत वैभव को हमें जानना चाहिये। ऐसा करने में ही

पूजा की सार्थकता/सफलता है।

हम इन्द्र शब्द के अर्थ का बार-बार मनन-चिन्तन करें। सोचें :

इन्द्र हैं। यह ११, २१, या २७ दिन का अभिनय नहीं है वरन् इसकी पृष्ठभूमि पर सम्यक्त्व है। हम अनुभव करें, अतः अनुक्षण, कि ‘हम शुद्धात्मा हैं’। सम्यग्ज्ञान जो मन की सारी चंचलताओं को शान्त कर देता है हमारा ध्वज-दण्ड है। हम चंचलताओं के नियामक हैं। मन की सारी चंचलताओं को चुनौती देने के लिए ही हम इस महायज्ञ में सम्मिलित हुए हैं। यह सिर्फ (कोई भी पूजा) स्थूल कर्मकाण्ड नहीं है; इसका एक सुनिश्चित आध्यात्मिक लक्ष्य है। सारी पूजाएँ सोदेश्य होती हैं। जैन ढाँचे में स्वीकृत पूजाओं का उद्देश्य क्रमशः अशुभ-से-शुभ और शुभ-से-शुद्ध की ओर यात्रा का है।

अशुभ-में-से शुभ-में, और शुभ-में-से शुद्ध-में अन्तरित होने का नाम पूजा है।

पूजा अन्त नहीं है, आरंभ है; अन्त है सिद्धत्व।

अंग्रेजी में कहावत है : यदि शुरूआत प्रशस्त/सुदृढ़ है तो समझ लो आधा

काम निर्विघ्न पूरा हो गया (वेल बिगन इज़ हाफडन)। ठीक से

आरंभ करना और अन्त तक निभा ले जाना सारे अनुष्ठानों का

एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है।

पूजा में हम अपने मन को गीली मिट्टी की तरह इतना लचीला और

आज्ञानवर्ती बना लेते हैं कि हम उससे जब/जैसा चाहते हैं, करवा लेते हैं ।
इन्द्रध्वज-आराधना में मन ध्वज की तरह लहरता तो है; किन्तु
दंड यानी संयम-नियम से वह इस तरह बँधा होता है कि अपने
शास्ता/आत्मा की अवहेलना करने में असमर्थ होता है; इसीलिए इन्द्रध्वज
आराधना की

सर्वोपरि उपलब्धि यह है कि हम किसी चमत्कार में-से न गुज़र कर
आत्मा-की-स्वाभाविकताओं में-से गुज़रें ।

आत्मा का जो परम वैभव है

उसकी ओर हमारा ध्यान बार-बार जाए ।

यह ऐश्वर्य क्या है ? यह है ज्ञान का ऐश्वर्य, स्व-त्व का परम
वैभव, स्वानुभूति और स्वरूपाचरण का ऐश्वर्य ।

जब तक हम आकारों में उलझे रहते हैं, तब तक सम्यक्त्व प्रकट नहीं
होता; किन्तु जैसे ही आकृतियों (पर्यायों) के सघन वन से
बाहर आते हैं, हमारे भीतर का ज्ञान-वैभव कुलाँचें भरता बाहर को
आ जाता है ।

पूजा में हम अपने भीतर के प्रच्छन्न वैभव को बाहर लाते हैं,
उसका भरपूर आनन्द लेते हैं । वीतरागता-में-निमग्न जिनबिम्ब पर
अपनी आँखें अपलक जमाये हम अपने भीतर विहार करने लगते हैं ।
हमारा एक-एक चरण (ऋदम) प्रभु के चरणों में से गति ग्रहण करता है ।
हम उनके चरणों में स्वयं को अर्पित कर उठते हैं, इसलिए कि ये
चरण हममें प्रतिष्ठित हो जाएँ; ये चरण हममें स्वरूपाचरण को
प्रकट करें ।

ज्ञान से सम्बन्धित सारे शब्द गत्यर्थक हैं । चरण/आचरण भी गत्यर्थक हैं,
गति का अर्थ रखते हैं । ज्ञान गतिशील तत्त्व है । वह तरोताजा रहता
है, तरोताजा रखता है । उसकी विशेषता है कि वह देखता नहीं है,
उसे खुद-ब-खुद दिखायी देता है । ज्ञान से कुछ छुपा नहीं होता है;
वैसे भी उजाले से अँधेरा न तो कभी छुप सकता है और न बच
सकता है । उजाले से उजाले को ही देखा जा सकता है; क्योंकि
उजाले की उपस्थिति में अँधेरे के होने का प्रश्न ही नहीं उठता है
अतः

क्या हम ऐसा कर सकते हैं कि इन आराधनाओं/महायज्ञों/पूजाओं के
अवसरों पर स्वयं

के ज्ञाता-दृष्टा बनने की शुरुआत करें ?

क्या यह संभव है कि इस अवसर पर हम बहिर्मुखता से हट कर
अन्तर्मुख हों और अपने भीतर अवरुद्ध आनन्द के अनन्त स्रोत को
उन्मुक्त करें,

खोलें, और उस दुर्लभ झील/झरने की छाया में पहुँचें, उसमें स्नान
करें ?

—प्रलयंकर ।

३८/तीर्थंकर : जून ८५

जैनधर्म की बहुमूल्य सेवा

'तीर्थंकर' का श्रावकाचार विशेषांक बहुत ही अच्छा है। इस विद्वत्तापूर्ण अंक का संदर्भ मूल्य भी बहुत रहेगा। जिज्ञासुओं के लिए यह अंक बड़ा उपयोगी है। ऐसे सुन्दर/सरस अंक के संपादन/प्रकाशन के लिए मेरी ओर से हार्दिक अभिनन्दन ! आप समय-समय पर विभिन्न विषयों पर जो विशेषांक प्रकाशित करते हैं, यह जैनधर्म की बहुमूल्य सेवा है।

-डॉ. रमणलाल चौ. शाह, बम्बई

उन्नयन के लिए प्रयत्नरत

आपका लिखा हुआ संपादकीय (मई, ८५) काफी सशक्त है। आप अहिंसा-संस्कृति के उन्नयन के लिए बराबर प्रयत्नरत हैं—यह शुभ है।

-डॉ. प्रद्युम्नकुमार जैन, रुद्रपुर

दिशा-निर्देशक

एक-से-एक बढ़कर सामग्री सहित उन्नत विचार प्रेरक, आचरण दिशा-निर्देशक अंक विशेषांक मिलते जाते हैं। मन, हृदय, चित्त अत्यन्त प्रसन्नता प्राप्त करते जाते हैं। साधुवाद ! अभिनन्दन !!

-डॉ. कपिलभाई टी. कोटडिया
हिम्मतनगर (गुजरात)

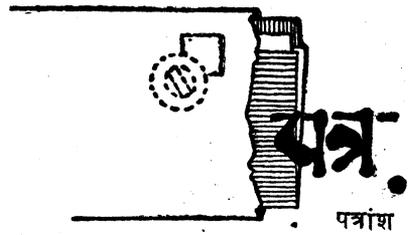
विशिष्ट संपादन

'तीर्थंकर' के प्रत्येक विशेषांक में आपके विशिष्ट संपादन की विलक्षणता रहती है।

-मुनि अमरेन्द्रविजय, देवलाली

एक कड़ी और

श्रावकाचार विशेषांक से 'तीर्थंकर' द्वारा प्रकाशित विशेषांकों की विशिष्ट ऐतिहासिक परम्परा में एक कड़ी और जुड़ गयी है। अंक को विषय की गहराई



तक ले जाने में आपके द्वारा की गयी मेहनत तारीफ के काबिल है। योग्य संपादन हेतु मेरी बधाई स्वीकार करें।

-जे. के. संघवी, थाणें (महाराष्ट्र)

नूतन/मौलिक

पूज्य एलाचार्य विद्यानन्दजी महाराज की षष्टिपूर्ति महोत्सव के उपलक्ष्य में प्रकाशित श्रावकाचार विशेषांक में कुल ३५ लेख, कविताएँ आदि समाज के जाने-माने विद्वानों की हैं।

श्रावकाचार : विचारपूर्वक आचार, बेहतर मानव यानी बेहतर श्रावक, शाकाहार : उत्तम क्यों ?— ये तीनों लेख खास कर पठनीय हैं। जगह-जगह रेखा-चित्रों की भरमार है जो सोने में सुगंध की उक्ति को चरितार्थ करती है। वैसे पूरा-का-पूरा विशेषांक पठनीय है। नूतन एवं मौलिक साहित्य प्रकाशित हुआ है, जो सार्वजनिक जनता के लिए अत्युपयोगी है।

-'जैन मित्र', ३० मई, ८५; सूरत

उदात्त जीवन-दृष्टि

प्रस्तुत अंक में विद्वानों ने सम्यक्त्व एवं श्रावक के स्वरूप, दृष्टि एवं उदात्त जीवन-व्यवहार की दृष्टि से सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है। संपादक डॉ. नेमीचन्द्र जैन ने आचार्यों, मुनियों एवं विद्वानों से प्रस्तुत विषय पर भेंट-वार्ता करके उनके विचारों

तीर्थंकर : जून ८५/३९

को प्रस्तुत किया है। उदार दृष्टि से किया गया संकलन महत्वपूर्ण है जो श्रावक अर्थात् एक निष्ठावान आचार-निष्ठ नागरिक को उदात्त जीवन जीने की दृष्टि देता है।

—अमर भारती' मई, ८५; राजगृह (बिहार)
श्रावकाचार के अनुरूप

एलाचार्य विद्यानन्दजी की षष्टि-पूति के उपलक्ष्य में श्रावकाचार ने पथ में दीपक प्रज्वलित करने का साहसी प्रयत्न किया है। प्रस्तुत विशेषांक में इसी विषय पर लेख, कविताएँ, बातचीत और अनेक प्रमुख लोगों से की गयी परिचर्चाएँ सम्मिलित की गयी हैं। अनेक परिचर्चाएँ विषय के अनुरूप हैं तथा कुछ व्यक्तिगत अधिक एवं विषय के अनुरूप थोड़ी-सी सामान्य हैं। पूरे अंक में अष्ट मूलगुण पालन और और स्व-पर हितकारी भावनाओं के धारण करने पर जोर दिया गया है। आचार्य समन्तभद्र के श्रावकाचार को पूरा देकर इस अंक को उपयोगी बना दिया है।

—'सन्मति सन्देश', जून ८५; दिल्ली
विशेष/उत्तम

श्रावकाचार विशेषांक 'तीर्थकर' की परम्परा के अनुरूप विशेष है, उत्तम है; अछूते पहलुओं पर नयी भंगिमाओं से प्रकाश पड़ता है। संग्रहीय और अभिनन्दनीय ! यात्रा का एक और कठिन पड़ाव आपने पार किया। सर्जन के लिए कितना विसर्जन चाहिये होता है, पत्र और आप प्रमाण हैं।

—लक्ष्मीचन्द्र जैन, नयी दिल्ली

**विशेषांक की उपलब्धि : रत्नकरण्ड
 श्रावकाचार का प्रकाशन**

'तीर्थकर' का 'श्रावकाचार विशेषांक' २०वाँ विशेषांक है, जो अपनी पहचान आप कराता है; इसका रूप, विचार-

सामग्री उत्प्रेरक है। एलाचार्य मुनि विद्यानन्दजी की षष्टिपूति के उपलक्ष्य में मंगल कामनाओं की एक नीराजना है। पूज्य मुनिवर समाज के द्रष्टा एवं स्रष्टा हैं।

इस विशेषांक में विद्वानों के लेखों/निबन्धों के अतिरिक्त श्रावकों के विचार आधुनिक संदर्भ में भी दिये गये हैं, जो परिचर्या में प्रस्तुत है जिसमें आर्यिका ज्ञानमतीजी, अक्षयकुमार जैन, लक्ष्मीचन्द्र जैन, प्रेमसुमन जैन, यशपाल जैन आदि के विचार संकलित हैं। 'श्रावकाचार' विषय पर विद्यानन्दजी, श्रीमती ललिता-बाई, आचार्य आनन्दऋषि आदि की भेंट-वार्ता भी यहाँ दी गयी है। पशु-पक्षियों की हम अपनी सुख-मुविधा, साज-सज्जा की दृष्टि से किस प्रकार निर्मम हत्या करते हैं, उसकी चर्चा अच्छी लगी, जहाँ पाठकों को अपने नयी जानकारी दी है। श्री बाबूलाल पाटोदी तो गोम्मटगिरि को समर्पित है ही।

इस विशेषांक की उपलब्धि इस बात में भी है कि प्रथम बार स्वामी समन्तभद्र के 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' का हिन्दी में गद्य-पद्य में और उर्दू कविता में सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। दोनों पद्यानुवाद प्रवाहमय एवं संगीतात्मक हैं। विशेषांक पर आपको बहुत-बहुत बधाई!

—डॉ. निजामउद्दीन, श्रीनगर (कश्मीर)
सारे विशेषण समाप्त

मैंने 'तीर्थकर' के प्रथम अंक से षष्टि-पूति अंक तक के सभी अंकों को देखा है। 'मुनि विद्यानन्द विशेषांक' से 'षष्टिपूति विशेषांक' तक के सभी विशेषांकों को देखा है। सच बात तो यह है कि हर विशेषांक अपने में कुछ इस प्रकार की विशेषता लिये हुए होता है कि उसके संबन्ध में क्या लिखें, क्या न लिखें? परन्तु

‘षष्टिपूर्ति विशेषांक’ ने तो सारे विशेषण ही समाप्त कर दिये जो उसके अंक के साथ जोड़े जा सकें।

सफल प्रकाशन के लिए संपादक और प्रकाशक को हार्दिक बधाई !

—सतीश जैन, नयी दिल्ली

बेहद उपयोगी/सुन्दर

श्रावकाचार अंक में आपने बेहद उपयोगी/बेहद सुन्दर सामग्री दी है। आप लगभग अकेले ही इतना सब कर लेते हैं। यह सब सोच कर आश्चर्य होता है।

—डॉ. बालकरण पाल, बम्बई

सर्वाधिक जनोपयोगी

श्रावकाचार विशेषांक पढ़ते हुए मन बार-बार पुलकित हुआ है। अपनी विषय-वस्तु के कारण यह विशेषांक ‘तीर्थकर’ के अब तक के विशेषांकों में सर्वाधिक जनोपयोगी है। इसमें वह सब है जो आज के आदमी में होना चाहिये। देश की तमाम साहित्यिक पत्रिकाओं के मध्य यों ‘तीर्थकर’ का स्थान निराला है, पर इस विशेषांक ने तो तमाम समकालीन अन्यान्य पत्र-पत्रिकाओं को दिशा-ज्ञान दिया है।

आज हर पत्रिका आदमी के लिए निकाली जा रही है, पर वह आदमी के काम की कम ही होती है। ‘तीर्थकर’ ने सिद्ध कर दिया है कि वह आदमी-आदमी के लिए है; ‘आम’ या ‘खास’ की जिद से परे, ‘सही आदमी’ के लिए।

आप संपादक भर नहीं हैं; आप अपने आपमें एक पूरा ‘संपादक-मण्डल’ हैं। जिस तरह कोई-कोई समाजसेवी व्यक्ति अपने आप में ‘संस्था’ बन जाता है। विशेषांक पूर्ण रूप से एक ‘सार्थक वस्तु’ बनकर जनमानस के करकमलों में पहुँचा है।

‘विषय’ से पूज्य विद्यानन्दजी का जन्मोत्सव और सदाचार/श्रावकाचार/शांकाहार-जैसे मानवोचित आचरण जोड़कर आपने इसे दीर्घकाल के लिए संग्रहणीय बना दिया है।

आपके बांद जो श्रम दीखा है, वह है श्री संतोष जड़िया का। वे अपनी ‘कारी-लकीरों’ से जिस तत्त्व का परिचय करा देते हैं, वह गहरे तक चिपक कर रह जाता है हृदय-मानस में। उन्होंने कम उम्र में ‘श्रेष्ठ कला’ पायी है जिसे वे गंगाजल की तरह उलीचते चल रहे हैं पाठकों के नेत्रों में।

—सुरेश सरल, जबलपुर

हृदयस्पर्शी

मई, ८५ के अंक में श्री प्रलयंकर की रचना ‘निरर्थकों के प्रथम ग्रंथ की सालगिरह’ ने हृदय को छू लिया। ऐतिहासिक तथ्य का काव्यात्मक वर्णन पढ़कर मुग्ध हो गया। उपाध्याय मुनि विद्यानन्दजी की बातचीत ‘श्रावक : एक सूर्योदय से दूसरे दूसरे सूर्योदय तक’ श्रावकों को आचार-विचार की प्रेरणा देती है; काश, तदनुसार हम चल सकें, तो आत्मविकास का यह प्रथम चरण ऊर्जा और स्फूर्ति का स्रोत सिद्ध होगा।

—राजमल पबैया, भोपाल

तीर्थकर : एक धर्मग्रन्थ

‘तीर्थकर’ के नियमित अंक प्राप्त कर मुझे एवं मेरे परिवार को बहुत अधिक आनन्द प्राप्त होता है। ‘तीर्थकर’ प्राप्त होते ही हम एक ही बार में नहीं पढ़ लेते हैं वरन् प्रतिदिन स्वाध्याय की सामग्री के रूप में उसका भरपूर उपयोग करते हैं।

इन दिनों ‘श्रावकाचार विशेषांक’ में प्रकाशित ‘रत्नकरण्ड श्रावकाचार’ ग्रन्थ का अध्ययन चल रहा है। जैनधर्म

तीर्थकर : जून ८५/४१

की और उसके अनुसार अनुसरण करने का सूक्ष्म ज्ञान पहली बार षड़ने को मिला है। जैन श्रावक-श्राविकाओं पर 'तीर्थकर' के माध्यम से आप बहुत बड़ा उपकार कर रहे हैं।

—कुमारी सुधा आशा जैन,
छोटी कसरावद (म.प्र.)

अत्यन्त उपयुक्त

'तीर्थकर' के श्रावकाचार विशेषांक में सौ. ललिता बेन लालचंद दोशी की जो मुलाकात (बातचीत) छपी है, वह वास्तव में बड़ी अच्छी ढंग से पेश हुई है। यह मुलाकात कई अन्य महिलाओं को भी मार्ग-दीप रहेगी।

परमपूज्य एलाचार्य विद्यानन्द मुनिराज ने श्रावकाचार के बारे में अनेक ग्रन्थों के आधार पर डॉ. नेमीचन्द्रजी के प्रश्नों के जो मार्मिक, उद्बोधक और अमृततुल्य उत्तर दिये हैं, वे सब पठन, मनन और चिन्तन करने के योग्य हैं।

पं. फूलचन्द्रजी शास्त्री और सब लोगों के लेख भी बहुत अच्छे हैं। श्रावका-चार विशेषांक अत्यन्त उपयुक्त है।

—श्रीमती चंचलाबेन रा. शहा, बम्बई

उत्तम सामग्री

श्रावकाचार विशेषांक पढ़ा। जैन कुल में उत्पन्न प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको जैन समझता है और जो अपने को जैन समझता है वह अपने को श्रावक मानता है। श्रावकाचार अंक पढ़ने पर मालूम

होता है कि श्रावक तो विरले ही होते हैं। हाँ, श्रावक के पाँच-दस प्रतिशत गुण वाले शायद पाँच-दस प्रतिशत श्रावक ही मिलेंगे। नागरिकता के गुण ही नहीं हों तो फिर श्रावक कहाँ हो सकते हैं? उत्तम सामग्री के लिए हार्दिक बधाई!

—मोतीलाल सुराना, इन्दौर

लोकमानस आकर्षित

श्रावकाचार विशेषांक पढ़ा ही नहीं, किन्तु उसका गहराई से चिन्तन-मनन भी किया। इसे विशेषांक कहूँ, या श्रावकों के लिए जीवन जीने की कला? इसमें श्रावकों के कर्तव्य/धर्म का जो विशद विवेचन है, वह मार्गदर्शक है।

श्रावकाचार, शाकाहार, सदाचार—तीनों ही पूरक हैं। राष्ट्रसंत एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी की षष्टिपूर्ति पर यह विशेषांक समर्पित किया, वह तो प्रत्येक परिवार में स्वाध्याय के लिए धर्म-ग्रन्थ बन गया।

समय-समय पर आप समाज को नयी दिशा देते रहते हैं, ज्ञान-ज्योति का दीप जन-जन में प्रज्वलित करते रहते हैं, इसका प्रभाव अवश्य होगा। 'तीर्थकर' ने चौदहवाँ वर्ष पूर्ण कर पन्द्रहवें वर्ष में प्रवेश किया; हार्दिक स्वागत है। इन वर्षों में 'तीर्थकर' ने लोकमानस को अपनी ओर आकर्षित किया है। जैसा नाम है, वैसा हृदयों में ही उसने स्थान पाया है।

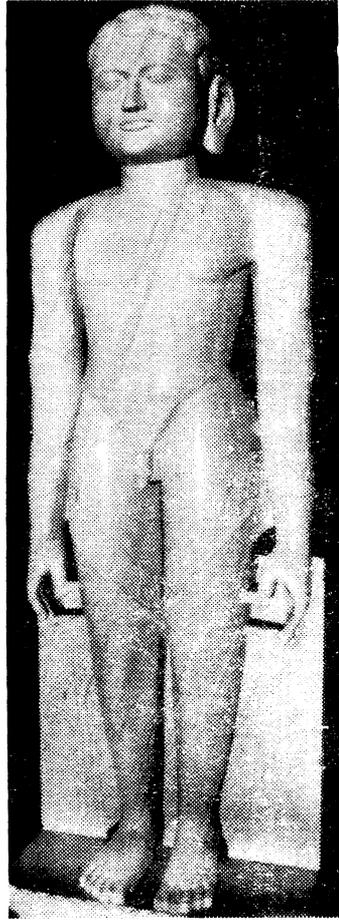
—मानवमुनि, इन्दौर

जयपुर में निर्मित भ.बाहुवली की मनोज्ञ मूर्ति का इन्दौर में शुभागमन श्रुत पंचमी (२४ मई, ८५) को हुआ। चल समारोह में प्रमुख मार्गों से होकर यह भव्य मूर्ति श्रुत पंचमी के उपलक्ष्य में एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी के सान्निध्य में आयोजित धर्मसभास्थल पर दर्शनार्थ रखी गयी। फिर इस गोम्मटगिरि पर ले जाया गया।

इस १९ फीट ऊँची सौम्य मूर्ति की प्रतिष्ठा आगामी १२ मार्च, ८६ तदनुसार फाल्गुन शुक्ल २, वीर निर्वाण संवत् २५१२ को एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी के सान्निध्य में करने का निश्चय किया गया है।

—गोम्मटगिरि पर एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी के विराजमान होने से धार्मिक प्रवृत्तियों में गति आ गयी है। प्रातः और अपरान्ह एक-एक घण्टे मूर्धन्य विद्वान् पं. फूलचन्दजी शास्त्री की विवेचना के साथ षट्खंडागम ध्वला टीका का स्वाध्याय हो रहा है। मुनिश्री के प्रति रविवार को प्रातः प्रवचन होते हैं। अष्टाह्निका में २३ जून से इन्द्रध्वज महामंडल विधान एवं विश्वशान्ति महायज्ञ महोत्सव का आयोजन किया गया है। एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी के चातुर्मास की स्थापना १ जुलाई ८५ को हो रही है।

—‘तीर्थकर’ के १६ वें वर्ष के मंगल प्रवेश पर गत २६ मई, ८५ को प्रातः धर्मसभा में एलाचार्य मुनि श्री विद्यानन्दजी को मई का अंक समर्पित किया गया। इसके पूर्व समाजसेवी श्री बाबूलाल पाटोदी ने ‘तीर्थकर’ द्वारा जैन साहित्य को किये जा रहे मौलिक/ऐतिहासिक योगदान की चर्चा करते हुए उसके विशेषांकों की विशिष्टताओं पर प्रकाश डाला। डॉ. नेमीचन्द जैन ने ‘तीर्थकर’ की प्रासंगिकता का उल्लेख करते हुए कठिनाइयों के बावजूद



भी नियमित प्रकाशन के अपने संकल्प को दोहराया। एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी ने प्रवचन के प्रारंभ में तीर्थकर की व्याख्या करते हुए उसके अनुसूप निरन्तर सार्थक होते रहने के लिए आशीर्वाचन कहे।

समाचार - परिशिष्ट



आध्यात्मिक प्रतिभा के धनी, सुप्रसिद्ध प्रवचनकार पं. बाबूभाई चुन्नीलाल मेहता का उनके जन्म-ग्राम फतेपुर (गुजरात) में गत २२ मई, ८५ को ५६ वर्ष की आयु में निधन हो गया।

पं. बाबूभाई मेहता सात्विक जीवन की साक्षात् मूर्ति थे। गत दो वर्षों से देह की अस्वस्थता के बावजूद लोगों के आग्रह करने पर उन्होंने सदोष दवा का उपयोग नहीं किया और आयुर्वेदिक में भी शुद्ध दवा का ही सेवन करते हुए आध्यात्मिक कार्यों की प्रगति में जुटे रहे। अन्त समय तक जिनेन्द्र दर्शन, पूजा तथा स्वाध्याय, मनन, चिन्तन में संलग्न रहे। उनके असामयिक निधन से समाज/धर्म की अपूरणीय क्षति हुई है।

—फीरोजाबाद (उ.प्र.) में गत २३ से ३० मई, ८५ तक आयोजित भ. बाहुबली प्रतिष्ठापना महोत्सव में अ.भा. दि. जैन विद्वत्परिषद् का १५वाँ अधिवेशन नव-निर्वाचित अध्यक्ष पं. भँवरलालजी न्याय-तीर्थ की अध्यक्षता में संपन्न हुआ। विद्वत्परिषद् के खुले अधिवेशन में दि. जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा तथाकथित भावी तीर्थकर 'सूर्य-कीर्ति' के नाम से जो मूर्ति स्थापित की

गयी है, उसके विरुद्ध पारित प्रस्ताव में उसे कपोल-कल्पित एवं दिगम्बर-परम्परा तथा आगम के प्रतिकूल घोषित किया गया है।

—भा. दि. जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, बम्बई ने भी देश के सभी तीर्थों, मन्दिरों और चैत्यालयों के प्रबन्धकों से अनुरोध किया है कि वे सूर्यकीर्ति मूर्ति-स्थापना के प्रति सजग तथा सतर्क रहें और किसी भी हालत में अपने तीर्थ पर, मन्दिर में या चैत्यालय में ऐसी किसी मूर्ति को रखने की अनुमति नहीं दें।

—भारतीय शाकाहार परिषद्, दिल्ली के निदेशक डॉ. एम. के. जैन ने सुझाव दिया है कि जब तक जैन समाज अपने कार्यक्रमों में अन्य शाकाहारी समाजों के लोगों को सम्मिलित नहीं करेगा, तब तक शाकाहार-प्रचार का व्यापक प्रभाव संभव नहीं होगा।

—जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में आर्थिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी के सान्निध्य में इन्द्रध्वज महामंडल विधान/विश्व शान्ति महायज्ञ का आयोजन २४ जून से ३ जुलाई, ८५ तक किया गया है।

—जैन विद्या अनुसंधान प्रतिष्ठान, मद्रास, के प्रधान सचिव श्री एस. कृष्णचन्द्र चोरड़िया ने सुझाव देते हुए निवेदन किया है कि पूज्य मरुधर केसरीजी महाराज की पुण्य स्मृति में मद्रास में रेडहिल्स एरिया में श्री मरुधर केसरी अन्तर्राष्ट्रीय जैन छात्रावास जैसी संस्था की स्थापना करें, जहाँ जैन विद्या के गहन अध्येता, अनुसंधाता निवास करें, जैन तत्त्वों का अध्ययन करें, उन पर अनुसंधान करें, जैन दर्शन का बहुमूल्य साहित्य का निर्माण करें। यह महाराजश्री के विद्या-निष्ठात व्यक्तित्व के सर्वथा अनुरूप महान् कीर्ति-स्तंभ होगा, जो युग-युगान्तर तक उनकी महिमा एवं गरिमा को विश्वव्यापी बनाये रखेगा।

मांस कभी नहीं खाऊँगा भूखे भले ही मर जाऊँ

आपको तो मालूम ही है कि मैं शुद्ध ब्राह्मण हूँ। आज तक अंडा तक हाथ में नहीं लिया। मेरे मित्रों ने कहा कि तुम यहाँ नहीं रह सकते, क्योंकि तुम कुछ खाते ही नहीं। आपको तो हमारे घर का वातावरण मालूम है और उसी वातावरण में जिनदगी के बाईस वर्ष व्यतीत किये हैं। आज तक मैंने मांस देखा तक नहीं था, अब मेरे सामने मांस पकाया और खया जाता है। सच में बहुत बुरा लगता है। कभी सोचता हूँ कि कहाँ नर्क में आ गया।

क्या यह सच है कि अमेरिका के लोग बगैर मांस खाये नहीं रह सकते? अभी तक मैंने मांस क्या, अंडा तक नहीं छुआ है। ब्रेड भी देखकर खाता हूँ, क्योंकि ब्रेड में भी ये मांस का अंश मिलाते हैं। अब आप ही बताएँ कि मैं क्या करूँ? मांस तो मैं खा नहीं सकता और न ही कभी खाऊँगा, चाहे भूखे भले ही मर जाऊँ। ऐसा निकृष्ट कार्य मेरे से हो नहीं सकता।

मेरा एक प्रश्न है जो मेरे से पूछा जाता है: 'अमेरिका के जो लोग हैं वे हिन्दूधर्म के अनुसार नर्क में जाएँगे या नहीं? इसका क्या उत्तर हो सकता है? (यहाँ करीब-करीब सभी भारतीय मांसाहारी हैं।)

जैनधर्म की कई बातें मुझे बहुत अच्छी लगती हैं। विशेषकर यह कि हमें किसी भी मूक प्राणी को मारने का उसे दुःख देने का कोई अधिकार नहीं है। हम किसी प्राणी को जीवन नहीं दे सकते, तो उसे ले भी नहीं सकते। क्या ईसाई धर्म यह बतलाता है कि मांस खया करो? बाईबल में ऐसा लिखा है क्या?

मेरा मत यह है कि सभी धर्मों में एक ही बात पर जोर दिया है कि किसी

नये आजीवन सदस्य

८२०. श्री सुरेन्द्रकुमार सेठी
कैलाश भवन
आर्य समाज रोड
रामपुरा बाजार
पो. कोटा-३२४००१ (राज.)
८२१. डॉ. आर्यभट्ट कलशधर शास्त्री
ज्योतिषाचार्य
जयसियाराम चौक (लुहारपट्टी)
पो. इन्दौर-४५२००२ (म.प्र.)
८२२. श्री स्वदृष्टा जैन
जैन धर्मशाला
पो. छपारा, जि. सिवनी (म.प्र.)
८२३. श्री शिखरचन्द मिश्री
१, नूरमल लोहिया लेन
पो. कलकत्ता ७००-००७
८२४. श्री चतुर्भुज हनुमानमल बोथरा
१६, बोनफील्ड लेन
पो. कलकत्ता ७००-००१

मूक प्राणी को दुःख मत दो। जब ये सारी बातें हैं तो मुझे एक बात समझ में नहीं आती कि देवी के सामने बलि क्यों चढ़ाई जाती है? बलि यानी प्राणी की हत्या ही! देवी आखिर माँ है और उसके सामने हत्या?

योग और धर्म का क्या सम्बन्ध है? क्या इसका भी मांसाहार से सम्बन्ध है जो व्यक्ति मांस खाते हैं उन्हें योग का अधिकार है या नहीं।

जब सब धर्म एक है तो यह बाड़ेबन्दी/घेराबन्दी क्यों?

—श्रीकान्त जमीदार, अमेरिका

(श्री निरंजन जमीदार के सुपुत्र उच्च अध्ययन हेतु अमेरिका गये हैं। उन्होंने सुश्री विमला ठकार को ९ अप्रैल, ८५ को जो पत्र लिखा था, उसके अंश)



भारतीय ज्ञानपीठ गौरवशाली प्रकाशन-परम्परा में नये कीर्तिमान

१९ वें ज्ञानपीठ पुरस्कार (१९८३) से सम्मानित कन्नड़ लेखक डा. मास्ति वेंकटेश अय्यंगार (श्रीनिवास) की बहुचर्चित रचनाएँ :

१. चिक्क बीरराजेन्द्र (ऐतिहासिक उपन्यास) ४५.००
२. सुब्बण्णा (लघु उपन्यास) १०.००
३. परकाय प्रवेश तथा अन्य कहानियाँ
(१९ चुनी हुई कहानियाँ) ३५.००

भारतीय कविताएँ : १९८३

भारतीय कहानियाँ : १९८३

प्रथम बार १९८३ में प्रकाशित सभी भारतीय भाषाओं में से चुनी हुई लगभग ७५ प्रतिनिधि कविताओं एवं लगभग २८ कहानियों के पृथक्-पृथक् महत्त्वपूर्ण संकलन। इन अपूर्व संकलनों को "राष्ट्र में स्वाधीनता के उपरान्त किया जाने वाला सर्वाधिक उल्लेखनीय साहित्यिक एकता आयोजन" माना जा रहा है।

यथासंभव (चुने हुए १०० व्यंग्य लेख) — शरद. जोशी

प्रख्यात व्यंग्यकार शरद जोशी का सर्वश्रेष्ठ व्यंग्य-लेखन एक ही स्थान पर १०० व्यंग्य-लेखों के महत्त्वपूर्ण संकलन के रूप में। अब शरद जोशी साहित्य-के-प्रेमियों को पुस्तक-पुस्तक भटकने की आवश्यकता नहीं। ६०.००

रामावतार

दसवें गुरु श्री गोविन्दसिंहजी महाराज विरचित रामकाव्य रामावतार अब साहित्य-प्रेमियों एवं जनसामान्य के लिए देवनागरी लिपि में उपलब्ध।

सजिल्द २०.००

पेपरबैक १२.००

छावा (उपन्यास)

लोकप्रियता के कीर्तिमान स्थापित करने वाले चिरनवीन उपन्यास "मृत्युंजय" के ओजस्वी लेखक शिवाजी सावंत का दूसरा (नवीनतम) उपन्यास जो उनकी १२ वर्ष की साधना का सुफल है।

जैन साहित्य

हमारे नये प्रकाशन : नये संस्करण

केवलज्ञानप्रश्नचूड़ामणि

चन्द्रोन्मीलित प्रश्न-प्रणाली के आधार पर लिखा गया फलित ज्योतिष का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ । सम्पादक : डॉ. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ।

नया संस्करण २५/-

मूलाचार (पूर्वार्ध)

आचार्य बट्टकेर द्वारा प्रणीत प्राकृत ग्रन्थ "मूलाचार" दिगम्बर जैन साधु-साध्वी की आचार-संहिता पर सर्वाधिक प्राचीन कृति माना जाता है । संस्कृत एवं हिन्दी टीकानुवाद के साथ ज्ञानपीठ से पहली बार प्रकाशित । टीकानुवाद : आर्थिकारत्न ज्ञानमती माताजी ।

मूल्य ६५/-

जैन साहित्य में कृष्ण

जैन साहित्य में कृष्ण-कथा का स्वरूप, व्यक्तित्व, तीर्थंकर नेमि और वासुदेव कृष्ण का पारस्परिक सम्बन्ध तथा कृष्ण के महान् कार्यों का संक्षिप्त विवेचन के साथ-साथ कृष्ण-साहित्य पर जैन कवियों की अब तक उपलब्ध रचनाओं का कालक्रम से उल्लेख करने वाली कृति ।

लेखक : डॉ. महावीर कोटिया ।

मूल्य १२/-

पट्टमहादेवी शान्तला

दक्षिण भारत के होय्सल राजवंश के महाराज विष्णुवर्धन की पटरानी शान्तला को केन्द्र में रख कर लिया गया वृहत् ऐतिहासिक उपन्यास । नव-स्थापित "मूर्तिदेवी साहित्य पुरस्कार" विजेता श्री सी. के. नागराजराव के वर्षों के ऐतिहासिक अनुसंधान और लेखन-साधना का सुफल । संपूर्ण उपन्यास चार भागों में नियोजित ।

मूल्य प्रथम भाग - ४८/-

भारतीय ज्ञानपीठ

१८, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड,

नई दिल्ली-११० ००३

तीर्थंकर : जून ८५/४७



S. Kumars[®]

A Trusted Name in

**'TERENE' & 'TERENE' BLENDED
SUITINGS ○ SHIRTINGS ○ SAREES**

Phone : 29 84 32 / 31 58 33

Grams : 'Ashokamills', Bombay 400 026

Telex : 011-2952

Registered Office :

S. KUMARS

"NIRANJAN"

99, Marine Drive, BOMBAY-400 002

नैतिक, और वैज्ञानिक दृष्टि से फायदा होगा। क्या भारत-जैसा अहिंसक राष्ट्र चिन्ता के क्षेत्र में इस तरह के प्रयोग करना पसंद नहीं करेगा ?

* * *

तिब्बत के लोग वैसाखी पूर्णिमा के पूरे माह और प्रत्येक तिब्बती माह के आठवें, पन्द्रहवें, और तीसवें दिन मांस नहीं छूते हैं।

* * *

अगर कुछ महीनों तक एक कुत्ते का बकरे के मांस पर पोषण किया जाता है और फिर कुत्ता मर जाता है, तो मांस-विश्लेषण से यह ज्ञात होगा कि कुत्ते का कमोबेश तात्त्विक गठन बिलकुल बकरे-जैसा हो गया है। यद्यपि ऐसे कुत्ते का ऊपरी आवरण कुत्ते-जैसा ही होगा, फिर भी मांस-तत्त्व बकरे के समान ही होंगे। जैसा कुत्ते-में यह घटित होता है, वैसा ही किसी भी व्यवित में संभव है। मांसाहार व्यक्ति को कुण्ठित और सुलभकोपी बना देता है, जिसके कारण वह अपनी पाशविक भावना और बर्बर वृत्ति को शमित नहीं कर पाते।

* * *

शाकाहारी खाद्य चावल, गेहूँ, मकई आदि से बने होते हैं; अतः ये सब कीटाणुनाशक जलतत्त्वों से भरपूर होते हैं।

* * *

शारीरिक व्यायाम न करने वाले लिपिक और विद्वान् और जो पूरे दिन बैठ कर काम करते हैं, या बौद्धिक कार्य करते हैं, उनके लिए शाकाहार ही एक आदर्श आहार है।

* * *

जो लोग प्राकृतिक जीवन व्यतीत करते हैं, उनके लिए प्रकृति स्वयं आत्म-नियन्त्रक सिद्ध होती है। प्रकृति की सहज वृत्ति (इंस्टिक्ट) उनका मार्गदर्शन करती है और उनकी सुरक्षा का भार वहन करती है।

* * *

जितनी दूर आप पैदल चल सकते हैं, उतनी दूर के लिए सवारी का सहारा लेना एक मूर्खतापूर्ण योजना है।

* * *

आज हमारी समस्याएँ बरसात में अकड़ी टूटी खाट की तरह हैं। जब हम एक पाये को दबाने का प्रयत्न करते हैं, तब अन्य पाये खड़े हो जाते हैं और जब उसे छोड़ दूसरे को दबाने की कोशिश करते हैं, तब पहला पाया खड़ा हो जाता है। ऐसे में अहिंसा का विचार ही हमारे लिए कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है।



इन सबमें सुख कहाँ है ?

- रसना का विषय रस है। जो रस राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहते हैं और जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ रसों में समान रहता है, वह वीतराग होता है।
- जो मनोज्ञ रसों में तीव्र आसक्ति रखता है, वह अकाल में ही विनष्ट हो जाता है; ठीक वैसे ही जैसे मांस-लोलुप मछली अंततः कांटे में बँधी जाती है।
- मनोहर रस की अभिलाषा में पीछे चलने वाला पुरुष अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को प्रधान मानने वाला वह क्लेशयुक्त अज्ञानी जन नाना प्रकार के उन चराचर जीवों को परितप्त और पीड़ित करता है।
- रस में अनुराग और ममत्व होने के कारण मनुष्य उसका उत्पादन, रक्षण और व्यापार करता है। उसका व्यय और वियोग होता है। इन सबमें उसे सुख कहाँ है ? और क्या उसके उपभोग-काल में भी उसे तृप्ति मिलती है ?
- रस से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है; जैसे कमलिनी का पत्र जल में लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह संसार में रह कर अनेक दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता।